एकात्म मानववाद के विशेष सन्दर्भ में आर्थिक विकास

Economic Development With Special Reference to Integral Humanism

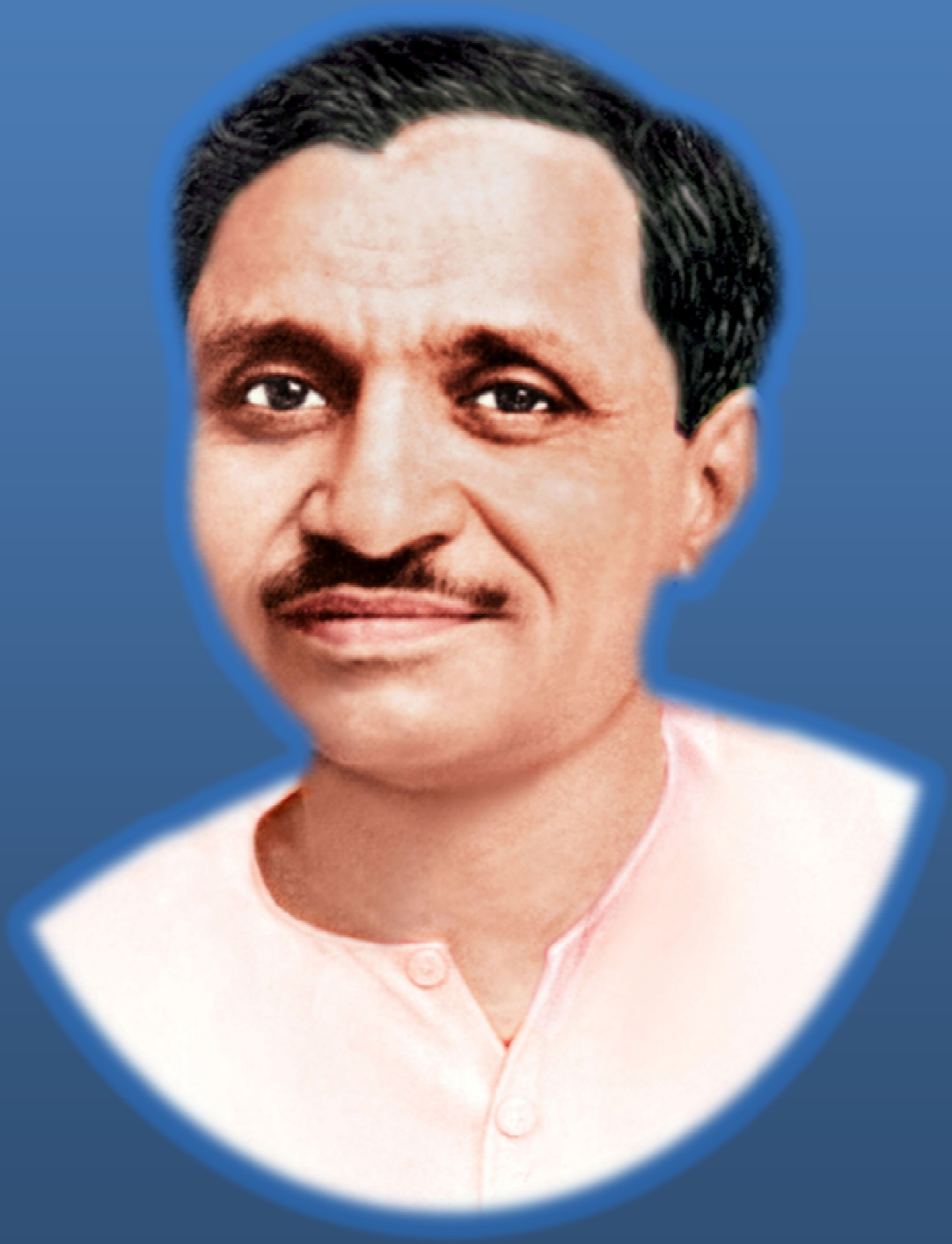

अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

एकात्म मानववाद के विशेष सन्दर्भ में आर्थिक विकास

Economic Development With Special Reference to Integral Humanism

सम्पादक

डॉ0 जय प्रकाश मिश्र

डॉ0 चन्द्र प्रकाश सिंह

© अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

प्रथम संस्करण : 2015

प्रकाशक

अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

महावीर भवन 21/16 हाशिमपुर रोड, टैगोर टाउन, इलाहाबाद – 211002

दूरभाष – 05322466563, E-mail – nationalpolicy.in@gmail.com, Web –www.avap.org.in

मूल्य : 100 रु0

ISBN :

मुद्रक :

विषय सूची

1.	**सम्पादकीय**	
2.	**प्राक्कथन**	**1-3**
3.	**Vidyadhara Buddhiraju, Rahul Shastri** Economic Development With Special Reference to Integral Humanism	**4-11**
4.	**प्रो0 ओम प्रकाश सिंह** एकात्म मानववाद का आर्थिक विकास दर्शन	**12-16**
5.	**प्रो.माधवी मोहरिल, डॉ0 स्मिता पत्तरकिने** नर से नारायण बनने का सुपंथ –एकात्म मानवदर्शन	**17-22**
6.	**ANIL KUMAR, PROF. A.P. PANDEY** एकात्म मानववाद के विशेष संदर्भ में आर्थिक विकास	**23-26**
7.	**गुंजेश गौतम** एकात्म मानववाद के आधार पर आर्थिक विकास	**27-29**
8.	**Shalley Bakshi** “Economic Development With Special Reference to Integral Humanism”	**30-31**
9.	**Hoshiyar Singh** Ekatma Manav-Vad	**32-38**
10.	**डॉ0 लीना गहाणे** एकात्म मानवदर्शन – वैश्विक जीवन दृष्टि	**39-44**
11.	**प्रो0 राम चन्द्र सिंह** एकात्म मानववाद के विशेष संदर्भ में आर्थिक विकास	**45-54**
12.	**राजर्षि भड़, कुमारी कमलिका भड़** ”एकात्म मानववाद के विशेष संदर्भ में आर्थिक विकास”	**55-57**
13.	**अजीत प्रताप सिंह** ‘एकात्म मानववाद’ से ‘प्रतिष्ठापूर्ण विकास’	**58-66**

प्राक्कथन

ऐसे समय में जब पूंजीवाद, समाजवाद एवं उनसे प्रसूत बाजारवाद व उपभोक्तावाद जैसी आर्थिक व्यवस्थाएँ समस्यागत समाधान नहीं दे पा रही हैं और इन्हें नवीन कलेवर प्रदान करने हेतु उदारवाद एवं नव उदारवाद जैसे प्रयोग चल रहे हैं, तब भारत सहित सम्पूर्ण दुनिया एक नये विकल्प की तलाश में है। क्या इस विकल्प को प्रस्तुत करने में भारतीय मनीषा एवं भारतीय तत्व चिन्तन सहायक हो सकता है? क्या भारतीय तत्त्व दृष्टि एवं व्यवहार शास्त्र में इस विषय में चिंतन या प्रयोग हुए हैं और उन्हें युगानुकूल आगे कैसे बढ़ाया जा सकता है? ये और ऐसे अन्य अनेक प्रश्न आज भारतीय बौद्धिक वर्ग के सामने दायित्व एवं चुनौती के रूप में खड़े हैं।

ऐसे युग में जहाँ समस्त मानव गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु 'अर्थ' बन चुका है, यह चिन्तन करना स्वाभाविक हो जाता है कि मानव जीवन में अर्थ का स्थान क्या है और विकास का मानवीयकरण कैसे सम्भव है? जहाँ तक भारतीय जीवन दृष्टि का प्रश्न है, यहाँ आर्थिक चिंतन को कभी भी दुर्लक्ष्य नहीं किया गया, किन्तु उसे साध्य न मान कर साधन माना गया है। आचार्य चाणक्य ने कहा है 'सुखस्य मूलम् धर्मः, धर्मस्य मूलम् अर्थः' अर्थात् सुख का मूल धर्म है और धर्म का मूल अर्थ है। भारतीय मनीषियों के अनुसार मनुष्य केवल अर्थ का उपभोग तथा शरीर की आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिए पैदा नहीं हुआ है, अपितु उसके सम्मुख स्वयं के साक्षात्कार द्वारा परमेष्टि को जानने का एक लक्ष्य होता है और उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसे शरीर, मन और बुद्धि साधन के रूप में प्राप्त हुए हैं। अतः इन सभी के सम्यक विकास द्वारा स्वयं से स्वयं को जानकर ही व्यक्ति परम सन्तुष्टि को प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को संतुष्ट करने का और कोई साधन नहीं है। यही भारतीय जीवनदृष्टि है।

आज पश्चिम प्रेरित वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाएँ मनुष्य को भौतिक संसाधनों के असीम उत्पादन एवं उपभोग के आधार पर संतुष्ट करने का प्रयास कर रही हैं। परन्तु, पश्चिम के चिंतकों को भी अब यह लगने लगा है कि उपभोक्तावाद के माध्यम से व्यक्ति को संतुष्ट नहीं किया जा सकता।

मध्यकालीन यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप नये–नये आर्थिक चिंतनों का सूत्रपात हुआ। एडम स्मिथ, लार्ड केन्स एवं कार्लमार्क्स जैसे विचारकों ने आर्थिक चिंतन के क्षेत्र में नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया जो शुद्ध रूप से भौतिक चिंतन पर आधारित हैं। लार्ड केन्स के आर्थिक चिंतन का दृष्टि कोण ही यह था कि ''आगामी कम से कम सौ वर्षों में यदि सच्चाई का कोई उपयोग नहीं है और असत्य ही उपयुक्त है तो हमें चाहिए कि सच को झूठ और झूठ को सच मानें। अधिकाधिक धन प्राप्त करने की भूख, अधिकाधिक लाभ अर्जित करने की स्पर्धा और उसके लिए बरती जाने वाली दक्षता ही आने वाले कुछ समय के लिए हमारे देवता हैं।'' पश्चिमी चिंतकों के मत में असीम आर्थिक उत्पादन एवं उपभोग ही अर्थव्यवस्था के लक्ष्य हैं तथा आधुनिक विज्ञान का उपयोग करते हुए व्यापक पैमाने पर औद्योगीकरण कर आर्थिक विकास करना सम्भव है। इस व्यवस्था में आर्थिक उत्पादन, वितरण एवं उपभोग के केन्द्रीकरण को प्रोत्साहन प्राप्त होता है।

दूसरी तरफ, कार्ल मार्क्स का यह मानना था कि ''उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण और श्रमशक्ति का सामाजीकरण, दोनों ऐसे बिन्दु तक पहुंचते हैं कि पूंजीवाद के साथ वे मेल नहीं खाते। इससे निजी पूंजी सम्पदा के विनाश की सूचक मृत्यु की घण्टी बजने लगती है। छीन लेने वाले से छीन लिया जाता है।'' उत्पादन, राजनीति एवं संगठन, यंत्र सभ्यता आदि सभी क्षेत्रों में अन्य वर्गों के साथ विरोध रखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर मार्क्स ने वर्ग कलह, वर्ग संघर्ष और उत्पादन सम्बन्धों में शत्रुता एवं वर्गीय हित सम्बन्धों पर बल देकर अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मार्क्सवादी अर्थ रचना में समाज में समान वितरण को सुनिश्चित करने के नाम पर उत्पादन, उपभोग एवं वितरण का नियंत्रण पूर्ण रूप से सत्ता के हाथों में चला जाता है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में जहाँ सम्पत्ति के उत्पादन वितरण एवं विनियोग का विचार केवल व्यापारी या उद्योगपति के लाभ–हानि की दृष्टि से किये जाने से व्यक्ति गौण हो जाता है, वहीं मार्क्सवादी अर्थ रचना में समाज में समान वितरण को सुनिश्चित करने के नाम पर उत्पादन, उपभोग एवं वितरण का नियंत्रण पूर्ण रूप से सत्ता के हाथों में चले जाने से भी व्यक्ति महत्व हीन हो जाता है। उत्पादन के साधनों, उत्पादन शक्ति को बढ़ाने और अधिकाधिक भोग करने की वकालत पूंजीवाद एवं साम्यवाद दोनों समान रूप से करते हैं, लेकिन राज्यसत्ता एवं अर्थसत्ता दोनों के केन्द्रीकरण के कारण पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा साम्यवादी व्यवस्था और अधिक भयंकर दुष्परिणाम उत्पन्न करती है।

इन दोनों ही विचारधाराओं में व्यक्ति साध्य न रह कर साधन बन गया है। दीनदयाल जी का इस विषय में कहना था कि ''मानव जीवन के उद्देश्य और जीवन में संपत्ति के स्थान सम्बन्धी हमारी परिकल्पनाओं को निश्चित किये बिना आर्थिक विकास एवं उसके लिए आवश्यक साधनों को हम विनिश्चित नहीं कर सकते।'' इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाना आवश्यक है। भौतिक आवश्यकताओं और जीवन के सर्वांगीण विकास में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। न केवल मानव के सर्वांगीण विकास के लिए अपितु उसके जीवन धारण के लिए भी न्यूनतम अर्थ की आवश्यकता होती है, लेकिन समाज एवं व्यक्ति की प्रतिष्ठा तथा बड़प्पन की जब सम्पत्ति ही एक मात्र कसौटी बन जाती है तब यह अर्थ के अत्यधिक प्रभाव का लक्षण है।

दीनदयाल जी ने आर्थिक क्षेत्र में एक नयी परिकल्पना को जन्म दिया जिसे उन्होंने अर्थायाम कहा। ''अर्थ के अभाव एवं प्रभाव दोनों से समाज जीवन को मुक्त रख कर प्रत्येक व्यक्ति को समाज के साथ सामंजस्य रखते हुए आगे बढ़ने का पूर्ण अवसर प्रदान करना अर्थायाम का मूल तत्त्व है। इसके लिए अर्थ के उत्पादन, स्वामित्व, वितरण तथा भूख की समुचित एवं संतुलित व्यवस्था अर्थायाम के प्रमुख अंग हैं। दीनदयाल जी का मानना था कि अर्थ के उत्पादन, वितरण और भोग में संतुलन रखने के लिए अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ एवं संस्थाएँ खड़ी करनी पड़ती हैं। आर्थिक क्षेत्र में सामान्यतः नियोजन, निर्देशन, नियमन तथा नियंत्रण का दायित्व राज्य को स्वीकार करना चाहिए, लेकिन उत्पादन, उपभोग और वितरण विकेन्द्रित होने चाहिए। शासन को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि केवल राजनीतिक ही नहीं अपितु आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी लोकतंत्र स्थापित हो।

आर्थिक लोकतंत्र का अर्थ है कि अर्थ का अभाव या प्रभाव किसी व्यक्ति के हित में बाधक न बने। इसको स्पष्ट करते हुए दीनदयाल जी का कहना है कि ''जिस शासन प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति व्यापक समष्टि हित के लिए बाधक न बनते हुए अपनी इच्छानुसार उत्पादन एवं उपभोग कर सकता हो उसी शासन प्रणाली में आर्थिक स्वतंत्रता है, लेकिन मनुष्य की भौतिक सुखों की सभी आवश्यकताओं को पूरा करना असम्भव है। भौतिक आवश्यकताओं पर कहीं तो कुछ मर्यादा डालनी ही पड़ेगी। इसके लिए हमें ऐसी अर्थव्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसमें मनुष्यता का विकास हो।

वास्तव में उत्पादन का विचार करते समय हमें प्रकृति से उतनी ही साधन सामग्री लेनी चाहिए और इस प्रकार लेनी चाहिए कि उसके कारण उत्पन्न होने वाली क्षति को प्रकृति स्वयं पूरा कर सके। इसके लिए उत्पादन तथा उपभोग के बीच संयम और समष्टि हित का ध्यान रखना आवश्यक है। यदि लोगों के सम्मुख भोग में संयम की कल्पना नहीं प्रस्तुत की जाती है तो मनुष्य को अधिकाधिक वस्तुएं प्राप्त हो कर भी सुख और संतोष नहीं प्राप्त होगा। अतः मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्ति का संस्कार कर उसमें अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण तथा संयमित उपभोग की प्रवृत्ति निर्मित करना ही संस्कृति का कार्य है। इसके लिए आर्थिक क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का विचार करना आवश्यक है। यदि नैतिक मूल्यों का विचार नहीं किया गया तो दीनदयाल जी के अनुसार वह अर्थशास्त्र न केवल अधूरा है अपितु नैतिक दृष्टि से विकलांग एवं पंगु है। व्यक्ति की उद्यमशीलता को बनाये रखने वाली तथा समाज में व्यक्तियों के आपसी संबन्धों में मानवता एवं आत्मीयता

का विकास करने वाली अर्थव्यवस्था हमें चाहिए। यह उद्देश्य विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। दीनदयाल जी का यह भी मानना था कि उत्पादन, वितरण और उपभोग यह तीनों दायित्व व्यक्ति के ऊपर छोड़ देना चाहिए। उत्पादन करने वाला ही उसका वितरण करे तथा संयमित उपभोग द्वारा पूंजी निर्माण करे।

एकात्म मानववाद के चिन्तन के अनुसार यह व्यवस्था तब गड़बड़ होती है जब व्यक्ति रूपी अंश समाज के साथ समग्रता का बोध खो देता है, जिसका कि वह स्वयं एक भाग होता है और तत्त्व–ज्ञान सही सामाजिक एवं आर्थिक दिशा को भूल जाता है। अतः व्यक्ति टुकड़ों–टुकड़ों में विचार करने लगता है। आज आवश्यकता है एकात्म मानववाद की परिकल्पना एवं दृष्टि को स्पष्ट कर सामाजिक सामंजस्य को जन्म देने वाली अर्थ व्यवस्था के निर्माण की।

दीनदयाल जी द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानववाद के आर्थिक तत्त्व चिंतन के आधार पर समाज में परस्पर अनुकूल, परस्पर पूरक एवं परस्परावलम्बी अर्थरचना का विकास वर्तमान परिस्थितियों में कैसे संभव है, इसी को ध्यान में रखकर एकात्म मानववाद के प्रतिपादन के अर्द्धशताब्दी वर्ष के अवसर पर अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ के द्वारा ''एकात्म मानववाद के विशेष संदर्भ में आर्थिक विकास'' विषय पर राष्ट्रीय निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। देश के विभिन्न प्रान्तों से पचास आलेख प्राप्त हुए। इन आलेखों का प्राथमिक परीक्षण आर्थिक विशेषज्ञों की समिति द्वारा किये जाने के पश्चात् पन्द्रह आलेखों में से अनुसंधान पीठ की परामर्शदात्री समिति के सदस्य एवं जाने माने अर्थशास्त्री डॉ0 बजरंगलाल गुप्त जी द्वारा प्रथम पुरस्कार सहित दस विशिष्ट प्रविष्टियों वाले आलेख परीक्षित किये गये। अनुसंधान पीठ के अध्यक्ष एवं प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ0 सुब्रह्मण्यम स्वामी द्वारा स्वीकारोक्ति प्रदान करते हुए इनकी घोषणा की गई। उन्हीं ग्यारह आलेखों को यहाँ पुस्तकाकार रूप में इस उद्देश्य के साथ प्रकाशित किया जा रहा है कि युगानुकूल अर्थरचना के इस बौद्धिक प्रयास को और आगे बढ़ाया जा सके।

डॉ0 चन्द्र प्रकाश सिंह
संयोजक
अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

Economic Development With Special Reference to Integral Humanism

Vidyadhara Buddhiraju[1]

Rahul Shastri[2]

Introduction

Pandit Deendayal Upadhyaya , was the first general secretary of the UP branch of Bharatiya Jana Sangh. He became the All India General Secretary of the Bharatiya Jana Sangh. And for 17 eventful years he led and built the Bharatiya Jana Sangh. Pandit Deendayal Upadhyaya enunciated the guiding philosophy, called Integral Humanism, for the Bharatiya Jana Sangh. This philosophy was articulated in a series of lectures in Bombay in 1965. This philosophy is the guiding philosophy also of the Bharatiya Janata Party, the successor of the Jana Sangh. And it must be considered among the most significant documents in modern political philosophy.

This philosophy stands in splendid distinction to every other political, social or economic philosophy existing today. There are deep civilizational reasons behind this distinction.

Integral Humanism is by its very conception, universal. Simply because it will not limit either the scope or method in the pursuit of human welfare. It is not as if this is a brand new philosophy invented by recent genius. What is new is the phenomenon of a broad and coherent popular Hindu civilizational political vision that has been developing over the past century and more. A movement that is still to find its full expression, but has by now a substantial and firm footing across the geography of the ancient Bharata Varsha, Integral Humanism boldly asserts the stark distinction between the complicated sophistry of the various political theories of the modern world and the rather crisp summaries of the human nature enunciated in the ancient legacy of the Hindus.

Integral Humanism accepts and integrates the widest spectrum of human experience in contrast to the rather narrow and fragmented ideologies of Western philosophies whether ancient, medieval or modern. We must observe that these fragmented visions spring from the deeply entrenched attitudes produced by thousand years of civilizational investment into imperialist models of life, politics, economy, monotheist religion and also, most tragically, “science”.

This philosophy must not be considered as an immutable revelation by a divinely appointed prophet. Not because these ideas are in themselves of uncertain merit; but because the purpose of this philosophy is not one of calling the multitude to subservient obedience. Rather the philosophy is intended to enlighten and inspire a student of philosophy to become perceptive. In the case of a divine revelation, one is constrained to merely obeying and at best interpreting a divine commandment, whereas with integral humanism there is not merely the possibility but also the responsibility to shine ever brighter and wiser than the patron philosopher. And the real detail for action is consciously deferred for a more complete articulation by contemporary genius.

[1] email : vidya.buddhiraju@gmail.com
[2] email : shastri56@gmail.com

One is easily tempted to ask why such simplicity has missed the great minds of thinkers across the world. And why should so simple a theory be trusted to address issues relating to a modern era that is characterized by its every multiplying complexity. The answers are a paradigm shift from the traditional Wes-dominated “intellectual” discourse of our times. Some bitter observations must be made about what passes for modern thought.

The Political Context for Integral Humanism

After independence for two decades India went through an aimless drift in politics, economic policy, social reform effort, foreign policy and the general atmosphere of governance. No political theory appeared to comprehend let alone fit the national circumstance. And Indian politics became increasingly a shapeless phenomenon with neither any identifiable aims nor established methods. Pandit Deendayal opines that this comes from the singular fact that both the governing party and the opposition of the day had abandoned the principle of national purpose. Coalitions on the ruling side and also the opposition were formed merely to fight the other side. Infact it was impossible to even distinguish the ruling party from the opposition. Ideologies, parties and individual members crossed boundaries with ease and fluidity for the dominating purpose of gaining power and pelf. These were dark days for a nation that had only a generation ago enough spiritual resolution to defeat, without arms, the greatest empire to dominate the earth.

Integral humanism proposes a basis for the national integration and reconstruction of Bharat, by simply recognizing and using the basis upon which this ancient nation has been constructed. This is a complete and organic understanding of Dharma, the eternal principle of all existence. Integral humanism does not go very much into questions of actual policy that can be implemented as an action plan, & simply because such an action plan would at any rate be relevant only to a specific circumstance and time. Such an action plan could be considered a circumstantial manifesto rather than a long term philosophy.

Integral Humanism – The sources and scope

It is pointless to attempt to separate anything in the Bharata Varsha from what is Hindu. The Hindus are the most ancient sanskriti on the planet, with the accumulated legacy of a thousand shining centuries. Decisive Hindu influence had reached the remote corners of the earth even in very ancient days. Only in recent centuries have the Hindus been comprehensively subdued by foreign imperialism, and consequently have acquired a deep inferiority complex. An elephant tamed by the steel chain, by force of habit, remains docile even after his restraints have been removed. Hindus today are deeply apologetic and doubtful about their own legacy. On the other hand they also resent the impositions, presumptions and intrusions from other cultures. Both these phenomen are only natural under the prevailing circumstances. As a culture it is important that we must resolve this paradox.

Pandit Deendayal distinguishes clearly tha objective from the method. The objective must in all events and circumstances be clearly understood, resolved and pursued without distraction. The method will change periodically as circumstances emerge. The objective is the triumphant revival of Hindu national life. It is fair to aim to reassert the culture, language, and traditions of the Hindus but the objective itself must not be confused with the method. The circumstances and constraints of

the day must be recognized as they are, whatever be the causes. We must not insist upon returning to a certain point of time in the past before we commence our work.

The central thesis of Integral Humanism is that all theories about politics, economics, society, national organization, foreign relations etc. must derive from a proper understanding of the human being, rather than deriving from a dogma.

The various layers of family custom, social tradition, political philosophy, economic policy, national governance and international relations are each significant in their respective places. But each must be aligned and adjusted to the fundamentals of the human spirit. It is not for the human being to suppress his spirit to fit into a blinkered vision of life. Any summary limited to either the immediate circumstance, or perhaps a certain limited aspect of human life will remain at best a partial view of reality and at worst a debilitating and destructive dogma.

What is Integral Humanism

In the Hindu legacy the welfare of the human being is condensed to the very simple, yet deeply profound, summary of chaturvidha purushartha. Every system of governance, economy, justice, jurisprudence, defence, law, governance etc must be constructed and administered for the securing of these objectives for every individual member of the nation, ultimately for all existence. **This consists of the four principles - Dharma, Artha, Kama and Moksha.**

Kama is the primal impulse underlying the human condition, its point of origin, Artha provides it with body, substance and regulation (since it implies wealth as well as governance); i.e. it provides the means, both to the impulse and to the end., Moksha is the end of human existence, and Dharma negotiates the distance between the three Purusharthas. Dharma is thus the overarching principle.

This is in essence a description of what amounts to human well being. This allows for the widest recognition of personality and individual circumstance. There is nothing in this summary to limit the methods that maybe employed for securing human well being. Awareness of the four aspects is natural for and inherent in the human spirit. The human being will of his own nature seek to establish harmony along these principles both at the personal and social levels. Disharmony in human society either at the microscopic or the macroscopic level arises from insensitivity to these realities.

The state exists for securing of these objectives. Every method and doctrine that is available can either be used where it assists this objective; or it can be discarded when it militates against this objective. The practical implications of this view point are deeply significant. For the pursuit of these objectives, no doctrine or institution is either a precondition or a limitation.

Something amounting to this summary is common to much of humanity in the notion of natural justice. However, this is not an explicit doctrine in any culture outside India. It remains a vague and undefined feeling. And, because a clear idea has never been formulated, the human being is very often altogether easily dismissed. Great superstructures in human affairs are constructed without attention to this foundation and become a source of immense suffering.

An Analysis of Social Superstructures

While having studied the human being we have to recognize that a human being's relation to his society is very much an integral part of the individual. Western political theories essentially start at such a point. Most of western thought is based upon the notion of a social contract i.e. a group of people coming together by mutual agreement upon individual and collective roles.

In this model therefore there are a number of dilemmas about the authority of the collective to impose order upon the individual. also there are questions about the durability of this arrangement; if not for the question of utility, then for the turbulent caprice of both the individual and the collective.

The Hindu legacy by contrast views the society as inherent in life itself, quite as natural as the individual; and not a consequence of a social contract. Central to this analysis is the idea of a collective mind called “Chiti”.

As an illustration, it is easy to see that as an individual one may have preferences that are either disconnected to those of the collective or perhaps even diametrically opposite. But the individual will quite often, easily and willingly align himself with the preferences of a collective mind. While it is true that it takes training and learning for one to develop into an active and visible member of a society, it is also true that the instinct and mind of the collective at various levels is undeniably a part of the individual even without any explicit physical inputs.

It may be argued that this collective mind could arise from cohabitation. This is disapproved by the fact that the Greek and Egyptian nations of the old do not exist any longer inspite of an unbroken continuity in cohabitation, whereas the Jewish nation exists even without this cohabitation. A nation subdued, broken and dispersed the world over for close to two thousand years till reasserts its national identity.

Within each individual that is simply an expression of the same universal mind. This Chiti functions differently at the individual level, the family level, the community level and the national level. At each level of the collective there is a corresponding characteristic. The unifying principle underlying this universal mind is the Dharma. So long as the individual and the collective are conscious and vigilant about Dharma, it is possible to develop and fortify both the individual and the collective. When Dharma is neglected, correspondingly the individual and the collective will decline. This is an inevitable truth. The strength, prosperity and glory of both the individual and the collective are natural, direct and inevitable consequences of their awareness and maturity in the practice of Dharma.

Institutions Are Organs of the Collective

Darwin's theory of evolution opines that the individual physical body evolves to fit better into the environment. The Hindu viewpoint though similar is distinct. Here it is asserted that the Prana inhabits and constructs the physical body according to its requirements and abilities. Just as the individual jiva constructs and refines a physical body, the collective also constructs and refines institutions; and as such these institutions, though very important within their context, are by no means more important than the collective.

Just as the human body, though it has a very significant role to play in human life, is not by any means more important than the soul; so also no particular institution of the collective is more important than the collective soul or what maybe called the nation. The politcal state therefore is an instrument of the nation. The problem with western thought is that they have equated the state with the nation. Whereas the Hindus have not made this mistake. Just like the individual soul the collective soul or the nation is also self born. It may take up any number of instruments of expression. So the state and for that matter even an emperor are acknowledged and understood to be merely instruments of national purpose.

The individual has roles to play in a variety of institutions. But he is not therefore identified or limited to any one of these in any lasting manner. So long as the underlying unity of existence is experienced, the individual is capable of assuming and performing these multiple roles in a gentle and easy harmony. Western thought can only view existence from the individual view point. From this view point all achievement is strictly an individual event. And hence there are the propensities to subjugate and exploit the other. Bloody struggles between interests and classes, societies, religions and nations are a natural consequence.

The Varna – Jati institution in Hindu society is based in the harmonious expression of the univeral soul, each Varna and Jati expressing a particular distinct characteristic that is complementary to the rest of the society. And yet each Jati and Varna holds in the deepest respect and regards all other Jatis and varnas. The Veda proclaims indeed that each Varna is indeed part of the Virat Purusha. Where then is the scope for conflict between different organs of a single body. The conflict between the Varnas and the Jatis arises only when this consciousness of the integral unity of the society is broken and the Jatis simply become individual warring classes as in the case of western social arrangements.

In the case of India, the political state was not the dominant fact of life. The most dominant social institution was the village panchayat. And this panchayat survived a thousand years of invasion and destructive vandalism. And so also the Hindu society survived a thousand years of tempest. However, the corresponding weakness in the first place was that we ignored the nation state, whose strength would have easily resisted foreign invasion in the first place.

And so Samartha Ramdas, the guru of Chhatrapati Shivaji instructed the king to develop a strong nation state expressive of the national Hindu Dharma. Indeed a strong nation state is as much a Dharmic requirement as the spiritual teachings of the sanyasi.

Dharma, Constitution, Secularism and Law

Dharma is the first of the chaturvidha purusharthas. And this single principle will in itself summarize and encompass all existence. Because of the broadness of this reality we will not go very long into attempting a description. It is however significant to note the single greatest distortion of this word in current usage. That is the equating of the idea of Dharma to that of religion.

A religion is a narrowly defined set of beliefs, values and codes of conduct and perhaps a sectarian identity. Dharma on the other hand is the principle of sensitivity to reality at every level of

life and existence. A religion is contained in a certain number of books and belief systems. Dharma can perhaps be explained in a number of ways including books and so on. But it can never be circumscribed by a doctrine or codes. A religion can choose to be arbitrary because it is the command of an omnipotent god whose command has no alternative. A Dharma can never be arbitrary. It has to ultimately pass the test of personal and collective experience. Dharma may include where appropriate the worship of a deity. But this can never be construed to mean the whole of Dharma.

For all of the history of the Hindus, no scripture, king, constitution or for that matter God have been placed above Dharma. It is a very unkind and deeply destructive distortion to equate the idea of Dharma with that of a religion. A Dharmic state is not a theocracy. A theocracy implies the imposition of a certain religious doctrine upon all subjects. This has been demonstrated to be impossible even in Pakistan where all the non Muslims have been expelled. Inspite of the exclusively Islamic population, there is no significant difference in the administrative structures between India and Pakistan. The customs of the Muslims in India and Pakistan are identical. The creation of Pakistan has not altered the practice of Islam in any manner.

On the other hand, to talk of secularism is not just superfluous but also a serious confusion. Secularism exists only in contrast and opposition to theocracy. Because there has never been a theocracy among the Hindus, secularism is an empty word. Declaring India as a “secular” state was an import from the West, as a contrast to Pakistan. Now having declared ourselves secular, we translate this into Hindi as either Nidharma (lacking in dharma, in essence lawless) or as Dharma Nirapeksha (indifferent to dharma, hence defeating the purpose of the state). This comes in the first place from the equation of dharma to religion, and then leading to deep confusion about the very fundamentals of our nation.

There is much talk in India about the “federal” nature of the Indian constitution. This is contrary to the national Dharma. The first line in the Indian constitution states “India that is Bharat is a union of states”. This is gross inaccuracy. Bharat exists eternally. That the national political organization today consists one device of administration or another is merely a matter of detail. It is a gross omission in the constitution to omit any mention about the essential and eternal Dharmic unity of India. The unity of India does not mean blind centralization of power. Decentralization of power and responsible government under the Janapadas and the Panchayats was a central feature of national organization from very early days of the nation. An idea that as of yet has to be properly understood and absorbed by the curent administration.

Dharma governs the legislature, the judiciary and also the people. Even while current theory proclaims people as the sovereign we must observe that according to the old manner even the sovereign is not above Dharma. The mere fact of having collected a majority opinion does not constitute unlimited right. An illustration is the case of General De Gaulle, who stood against the majority opinion of French government and refused to accept French submission to German conquest. He left France and continued the war against the Germans. Similarly, Lokamanya Tilak proclaimed the freedom of India as a birth right even while there was no method of developing or asserting a majority opinion. Abraham Lincoln stood firmly against majority opinion when he asserted the sanctity of the American Union.

And, therefore, it stands that even a minority of one individual who upholds Dharma can stand against the entire collective majority of the nation who violate the Dharma. And so the greatest duty of the state is to uphold and proclaim the Dharma, and endeavour to educate the nation to the realization of a Dharmic state, the Dharma Rajya.

Economics

As in the case of any other aspect of national life, economics must also be viewed and evaluated in the light of Dharma. Of course it is necessary to secure for the nation the basics of food, clothing and shelter. This is tha primary role of economics.

But to emphasize economics as a primary purpose beyond this would be to gradually reduce humanity to an appendage of economics rather than making economics a tool for human welfare. Great disaster will follow from such distortion. The great depression to hit the world in the 1930s derived from such distortion. While it is fair to continue debating in hindsight the causes and mechanisms of global economic disruptions, it is important to identify and design systems that are structurally and fundamentally secure from such disruptions.

This can only follow from the principles of Dharma not from theoretical orthodoxies or the reckless pursuit of profit. The most significant first principle of such design is sustainability. At the micro level it is the simplest of realities. Somehow at national and global scales this simplest principle is given the go by, by both communist and capitalist systems. We must consider sustainability as the fundamental principle at every level and in every facet of economics.

The major objectives in economics can be identified as the following.

- Food security for all and economic responsibility towards the deprived.
- Social obligation to support education for all.
- Medical care

Now the question arises, what can inspire individuals or groups to work when they are in any event materially well provided for? The answer is that when the society has guaranteed a minimum level of sustenance for the individual, correspondingly the society can demand a minimum amount of effort from the individual. At any rate a person without an occupation will rapidly descend into insanity.

As such the right to work must be considered as one of the fundamentals of a Dharmic economy.

There is much detail in the design of an economic system. But the trivialized view of the dichotomy between capital and labour is destructive to the society as a whole. The purpose of the economy is not about apportioning rewards between the rapacious capitalist and the militant labour. Rather it is to secure for every member of the society the physical basis for higher dharmic pursuits.

Capitalist orthodoxy reduces even human life to simply a means of production of a certain economic worth, and the consumer to a consuming machine expected to consume mass produced commodities. Everything including time, life and death is measured in money. Communism is a

reaction to this dehumanized model of production. But the communist solution is even more dehumanizing. Whereas in a capitalist model there is some refuge for the human spirit, in communism there is none. The human being is well and truly converted into a cog on the wheel of industrial production.

In the most sensible view the only means to secure a just, humane and sustainable economy is an intensive decentralization of the economy. Only then can the economy match the cultural, climatic, geographical and political conditions of the nation and its vast and diverse humanity. Promoting and inculcating Swadeshi economic consciousness is the only sensible route to this objective. Swadeshi is therefore not merely a stop gap political slogan but the very centre of the economic model.

For too long the institutions, standards and the very objectives of the state and of our national resolve have been imported and assorted in a haphazard manner, defering even the definition of our problems to authorities and claimants from other cultures. This is simply continuing the slavery of earlier eras. This status quo mindset must be broken decisively. There is no limit to the methods and techniques that we may employ so long as we properly appreciate dharma and the basic needs of the human being.

******

एकात्म मानववाद का आर्थिक विकास दर्शन

प्रो0 ओम प्रकाश सिंह[‡]

पृथ्वी पर मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रारम्भ आर्थिक व्यवहार कालान्तर में सैद्धांतिक प्रक्रिया के रूप में अस्तिव में आये अथवा उनका सैद्धान्तीकरण हुआ। इसी आर्थिक व्यवहार के सैद्धान्तीकरण का नाम अर्थशास्त्र है। अर्थशास्त्र सामान्य रूप में मानव की आर्थिक आवश्यकताओं का विज्ञान है। इसमें निरन्तर जटिलतायें आयीं। सरल आर्थिक व्यवहार अपने विकास के क्रम में जटिल आर्थिक सिद्धांतों का भाग बन गया और इसकी सहजता समाप्त हो गयी। वैदिक ग्रन्थों में जटिल बुद्धि या युक्ति से अर्जित धन को बुद्धि धन कहा गया है। वर्तमान में पश्चिम के गणितीय सिद्धान्तों की धूर्त संरचना पर खड़े अर्थशास्त्र को अमानवीय तथा **'अनात्म–अमानवीय'** अर्थशास्त्र कह सकते हैं। इसी पश्चिम के आत्मकेन्द्रित एवं मुनाफावादी अर्थशास्त्र के कारण विकास के नाम पर विनाश को बढ़ावा मिल रहा है। क्योंकि विकास की दिशा ही तय नहीं है। **'हिन्दू आर्थिक चिंतन'** अथवा **'एकात्म मानववादी विकास'** सतवादी विकास को आदर्श मानता है। रजसवादी विकास को मध्यम तथा तमसवादी विकास को आसुरी तथा हेय मानता है। इन संदर्भों की चर्चा हम आगे इस लेखन में करेंगे।

विचार भूमि : विश्व में आत्म तथा अनात्म दर्शन की परम्परा का द्वन्द एक ऐतिहासिक सच्चाई है। सत्य का जिसने साक्षात्कार किया, उसके लिए सत्य का अस्तित्व है, लेकिन सत्य तक जो नहीं पहुंच सका, उसके लिए सत्य का अस्तित्व नहीं है। यह संघर्ष अनादि काल से जारी है। सत्य की खोज और उसे पाने के लिए कठोर तपस्या करने वालों की एक लम्बी सूची सनातन, जो हिन्दू का पर्याय है, के साहित्य और विश्वास में अनादि काल से कायम है। तपास्वियों एवं साधकों की सूची में निरन्तर नाम जुटते रहे हैं और वर्तमान में भी क्रम जारी हैं। यह परम्परा वैदिक काल से निरंतर प्रवाहमान है। वैदिक साहित्य इस बात का प्रमाण है कि भारतीय जीवन परम्परा किसी क्रमिक विकास का अंग न होकर मूल्यों के अनुरूप मानवीय समाज का संचालन इस का ध्येय रहा है। हम, वैदिक मूल्य आधारित हिन्दूजन ब्रह्मा जी की मानसी सृष्टि से उत्पन्न मूल्य युक्त मानव समाज के अंग हैं। यह संदर्भ सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य में उपलब्ध है। दक्ष, मनु, नारद आदि ब्रह्मा जी के मानस पुत्र थे। बाद में ब्रह्माजी के मानस पुत्रों की संतति के विकास से व्यापक सृष्टि का क्रम चला।

इससे स्पष्ट है कि मानसी सृष्टि के पश्चात् मैथुनी सृष्टि का क्रम चला, जो अब भी जारी है। मानसी सृष्टि क्रम में उत्पन्न ब्रह्माजी की मानसी संततियों के पास भाषा, शब्द, ज्ञान, मूल्य एवं शारीरिक दक्षता भी थी। इस कारण मानसी सृष्टि में मैथुनी सृष्टि सदृश्य बाल्य अथवा शिशुवत् जीवन का प्रारम्भ नहीं था। इतना ही नहीं उस समय व्यक्ति भी था और समाज भी था। क्योंकि यदि सिर्फ व्यक्ति अथवा कुटुम्ब होता तो उसके लिए वे व्यापक मूल्य क्यों बनते, जिसे आज हम वैदिक साहित्य के रूप में जानते हैं। वैदिक ज्ञान की आवश्यकता सिर्फ व्यक्ति या परिवार के लिए ही नहीं थी। उसकी आवश्यकता व्यापक समाज के लिए ही थी। वैदिक साहित्य का संदर्भ देखने के बाद एक ऐसे मानवीय समाज की संरचना का सूत्र हमें मिलता है , **जिसमें व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र और समष्टि को एक माला की कड़ी के रूप में देखा गया है। इसी एकता की कड़ी का नाम दीनदयाल जी ने 'एकात्म–मानववाद'** बताया। दीनदयाल जी का **'एकात्म मानववाद' कोई नया नहीं वरन् वैदिक काल से चले आ रहे सनातन प्रवाह का ही युगानुरूप प्रकटीकरण है।** हिन्दू/सनातन दर्शन आत्मवादी है। आत्मा ही परम् चेतन का अंश है। शरीर रूपी रथ जबतक आत्मारूपी रथी(सवार) से जुड़ा रहता है, तभी तक वह अस्तित्व में है। इस प्रकार आत्मा ईश्वर का अंश होने के साथ–साथ प्रत्येक घट/जीव में निवास करती है। लेकिन जीव के कर्मफल के अनुसार पिंड अथवा शरीर या घट की स्थिति परस्पर भिन्न होती

[‡] निदेशक, महामना मालवीय पत्रकारिता संस्थान, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

है। अनात्मवादी अथवा भौतिकवादी इसी घट या शरीर रूपी भिन्नता को नित्य और सत्य मानकर व्यवहार करते हैं। उक्त भिन्नताओं के कारण आत्मवादी और अनात्मवादी विचार परस्पर विरोधी रूपों में नजर आते हैं।

आत्मवादी चिंतन में शरीर अनित्य किन्तु आत्मा नित्य तथा एक ही है। यह शारीरिक भिन्नता ठीक उसी प्रकार है, जैसे जलयुक्त रखे गये विभिन्न घड़ों में अलग–अलग दिखाई पड़ने वाला सूर्य एक ही है। इस एकत्व का नाम अद्वैत है। इसी अद्वैत का नाम एकात्म भी है। इसी एकात्म के साथ मानववाद जुड़कर विशेष अर्थ ग्रहण करता है। क्योंकि इसमें मूल रहस्य है, **'मानव'**। हमें व्यक्ति तथा मानव के मध्य के सम्बन्धों को समझना होगा। क्योंकि व्यक्ति एक इकाई मात्र है। इसके विपरीत**'मानव'** समाज, राष्ट्र एवं समष्टि की चेतन इकाई है। इसी **'मानव'** को **'हम'** के रूप में भी देखते हैं। 'मानव' एक युक्ति पूर्वक गढ़ा गया मनुष्य समूह नहीं है, वरन् **'मानव'** एक मूल्यात्मक, चेतन तथा श्रेष्ठ व्यवहार युक्त स्वाभाविक जीवन दृष्टि को व्यक्त करने वाली संरचना है। इस श्रेष्ठ मानव संरचना का चित भी है, इसकी शरीर है, इसकी आत्मा भी है और इसके मूल्य भी है। इसी गति के कारण समस्त स्थितियों एवं समान आवश्यकता में चिंतन की स्थिति समान होती है। इसी मानव चेतना का बोध हमें **'समाज'** के रूप में दिखाई पड़ता है।, इसी प्रकार समाज रूपी 'मानव' की आत्मा भी है, जिसके कारण हम में समान अनुभूति एवं सहमना का भाव आता है। इसे हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं। जैसे वर्तमान में किसी राष्ट्रीय अथवा वैश्विक समस्या पर जब हम मीडिया में विचार विमर्श करते हैं तो हम चर्चा में वह सब सम्भावना व्यक्त कर जाते हैं, जोकि कभी–कभी सरकार की नीति एवं निश्चय का भाग होता है। यह एकात्म अनुभूति इस कारण होती है, क्योंकि मानव रूपी समाज एक ही परमतत्व के साथ बंधा है। इसी कारण जीवन दशा युक्त मानव रूपी समाज एक सहज व्यवहार की इकाई है। मानव रूपी सहज व्यवहार की यही इकाई अपनी संस्कृति, इतिहासबोध और विकास क्रम के संस्मरणों तथा भौगोलिकता के कारण मानव चित्त, आत्मा मन आदि को राष्ट्र के रूप में व्यक्त करती है। **इसी कारण दीनदयाल जी ने समाज और राष्ट्र में भी चित्त, आत्मा, मन, बुद्धि एवं शरीर आदि का समुच्चय देखा हैं।** यही समुच्चय समस्ष्टि में भी है, जिसे गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्री रामचरित मानस में सहज ही लिखा है –**'सीयाराम मय सब जग जानी। करउं प्रणाम जोरि युगपानी।'** इसी **'एकात्मता युक्त मानव'** बोध को दीनदयाल जी ने **'एकात्म मानववाद'** संज्ञा से सम्बोधित किया।

यह 'एकात्म मानववाद' सहज एवं प्रत्यक्ष भी है। 'मानव' एक चेतन इकाई है। इस चेतना में अचेतन का भी बोध है। क्योंकि अचेतन तो चेतन का बोध नहीं कर सकता, परन्तु चेतन के द्वारा अचेतन का बोध होता है। मनुष्य सब का बोध तो कर लेता है परन्तु वह स्वयं क्या है, उसके चिंतन का प्रेरक ट्रांसफार्मर कौन है को सहज में नहीं जान पाता है। हमारे घर में किस ट्रांसफार्मर से बिजली आती है इसे तो हम जानते हैं, लेकिन मेरे अथवा व्यक्ति के अन्दर के चिंतन अथवा बोध की उर्जा का केन्द्र/ट्रांसफार्मर कौन है उसे नहीं जानते। लेकिन हमारे मनीषी पूर्वजों ने उसे ही **'आत्मा'** नाम दिया। इस प्रकार व्यक्ति की निजता से परे व्यापकता की बोधक आत्म–तत्व में ही समाज, राष्ट्र एवं समष्टि का तत्व छिपा है, लेकिन इसका आधार व्यक्ति तथा परिवार है। इसी एकत्व को देखकर आदि शंकराचार्य ने कहा **'यत्पिंडे तत् ब्रह्मांडे'** अर्थात् पिंड शरीर और ब्रह्मांड में परस्पर एक रूपता है। विज्ञान भी मानता है कि मानव शरीर में रक्त एवं जल का जो अनुपात है वही पृथ्वी में स्थल तथा जल का भी अनुपात है। साथ ही अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ लम्बाई सभी व्यक्ति का होना भी एकात्म का परिचायक है। ''आत्मानम् प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत'' अर्थात् अपने प्रतिकूल व्यवहार दूसरों से न करें, यही एकात्मवादी व्यवहार है। इसी कारण हम कह सकते हैं कि **'एकात्म मानववाद' – सृष्टि की इकाइयों – व्यक्ति – परिवार – समाज – राष्ट्र एवं समष्टि को एक मानता है।** इन में तात्विक भेद नहीं मानता। इस **'एकात्म मानववादी'** दर्शन के उतने आयाम एवं विस्तार हैं, जितनी व्यक्ति की आवश्यकताएं। इन विभिन्न आवश्यकताओं का केन्द्र ''अर्थ'' है। कौटिल्य ने **'अर्थशास्त्र'** की परिभाषा में लिखा है कि 'अर्थशास्त्र का मुख्य अभिप्राय – (1) अप्राप्ति की प्राप्ति, (2) प्राप्ति का संरक्षण तथा (3) संरक्षित का उपभोग है। 'एकात्म मानववाद' में आर्थिक व्यवहार उक्त आधारों पर ही टिके होते हैं। यदि – **'एकात्म मानववाद'** के आधार पर

व्यवहार में – अप्राप्ति की प्राप्ति, प्राप्त का संरक्षण एवं संरक्षित का उपभोग लागू किया जाय तो, उस 'अर्थशास्त्र' की दिशा विकासवादी स्वतः हो जायेगी। लेकिन इसके विपरीत अनात्म या भौतिकवादी आधार पर यदि – अप्राप्ति की प्राप्ति, प्राप्त का संरक्षण एवं संरक्षित का उपभोग लागू करेंगे तो पश्चिम का अनर्थकारी अर्थशास्त्र पैदा होगा, जो विकास को मानवीय आधारों की अपेक्षा तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत कर विकास के नाम पर विनाश को जन्म देगा, जिसका उदाहरण है औसत आय का सिद्धांत ।

एकात्म मानववादी अर्थशास्त्र : दार्शनिक भिन्नता की पृष्ठभूमि के कारण अर्थशास्त्र की भी पृष्ठभूमि भिन्न–भिन्न रूपों वाली है। भारतीय अथवा हिन्दू चिंतन परम्परा में यदि इसका मूल्यांकन करें तो स्थिति और भी स्पष्ट होगी। पश्चिम की शिक्षा व्यवस्था के कारण वैदिक – पौराणिक आदि ज्ञान परम्परा से विमुख हम में आत्मबोध का तत्व लुप्त जैसा हो गया है। जिसके कारण हम प्राचीन भारतीय **'अर्थशास्त्र'** एवं आर्थिक चिंतन से इतने दूर हो गये हैं कि, **प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र को सिर्फ उक्ति अथवा सिद्धांत मानने के साथ अव्यवहारिक मानते हैं।** हमें **वैदिक साहित्य में धन के 22 (बाइस) से अधिक प्रकारों के नाम मिलते हैं, जिस की स्पष्ट व्याख्या भी है, जिसमें शेयर से लेकर आय एवं मूलधन भी सम्मिलित हैं।** यह संकेत इस कारण कर रहा हूं कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र अर्थात् **'हिन्दू अर्थशास्त्र'** का चिंतन एवं अध्ययन तथा शोध होना चाहिए। इससे सिर्फ हिन्दुस्तान नहीं वरन् सम्पूर्ण मानवता का कल्यांण होगा, क्योंकि 'हिन्दू अर्थशास्त्र' का आधार 'एकात्म मानववाद' पर आधारित है, जिसमें व्यक्ति अपने नहीं, वरन् समष्टि के लिए जीता है। इसे हम इस सूत्र से स्पष्ट कर सकते हैं–

हिन्दू अर्थशास्त्र = व्यक्ति X परमार्थ (एकात्म मानववाद एवं त्याग)

एवं

पश्चिमी अर्थशास्त्र = व्यक्ति X स्वार्थ (आत्म केन्द्रित एवं लाभ)

उपरोक्त भिन्नतायें महत्वपूर्ण हैं। एकात्मवादी अर्थशास्त्र में व्यक्ति अपने एवं अपनों के स्थान पर समष्टि तथा चराचर और परमार्थ के लिए जीता है, जिसमें मुनाफा, लाभ के स्थान पर दूसरे की चिंता मुख्य होती है और व्यक्ति अर्थ रूपी अनर्थ को तुच्छ समझता है। लेकिन पश्चिम का अर्थशास्त्र लोभ तथा अनर्थ पर खड़ा स्वार्थ एवं आत्मकेन्द्रितता को ही बढ़ाता है। इसी कारण गोस्वामी तुलसी दास ने 'श्रीराम चरित मानस' के लंका काण्ड में लिखा है **–काटत बढ़इ सीस समुदाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।। अर्थात् भगवान श्रीराम अपने बाणों से रावण का सिर काट रहे हैं, लेकिन रावण के सिर उसी प्रकार फिर बढ़ रहे हैं जैसे, लाभ के बाद लोभ बढ़ता है।** यह उक्ति पश्चिमी अर्थशास्त्र पर सटीक लागू होती है। जब कि भारतीय अर्थशास्त्र के अनुरूप कबीरदास जी कहते हैं **–'साईं इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाय। 'मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाय'** – अर्थात् मेरा भी कार्य चले और साधु अर्थात् सज्जन सेवा भी कर सकें। अब प्रश्न उठता है कि, इस साधु अथवा सज्जन कहां का अर्थात् पड़ोस या दुनिया या समष्टि का? किन्तु कबीरदास कोई सीमा नही रखते अर्थात् साधु जन कहीं का, यही समष्टि के प्रति 'एकात्म मानववादी' अर्थशास्त्र या आर्थिक दर्शन है। इसी **'एकात्म मानववादी' दृष्टि के कारण दधीचि ने आसुरी शक्तियों के विनाश के लिए बज्र बनाने के लिए अपनी अस्थि स्वयं समर्पित कर दिया।** यह 'एकात्म मानववादी' व्यवस्था में ही सम्भव है, क्योंकि इसमें पर दुःख कातर का भाव आता है। कहा जाता है कि मक्खन तो गर्मी से द्रवित होता है, लेकिन **परदुःख से संत द्रवित होते हैं।** इस संत की द्रविता में एकात्म बोध है, न कि स्वार्थ और मुनाफा।

एकात्म मानववादी आर्थिक विकास : उक्त विवेचन के पश्चात् हम अब **'एकात्म मानववाद'** के विकासात्मक पक्ष अथवा विकास दर्शन पर विचार करेंगे। वास्तव में दीनदयाल उपाध्याय जी से एकात्म मानववाद' के आर्थिक संकल्पना का जो दर्शन हमें मिला वह कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। औद्योगिकरण के

विकास के परिणाम स्वरूप पश्चिम में अनेकों अर्थशास्त्री एवं अनेकों आर्थिक सिद्धांत तो अस्तित्व में आये, लेकिन उन से मानवता की मुक्ति सम्भव नहीं थी। इसी की अनुभूति के परिणामस्वरूप दीनदयाल उपाध्याय जी ने वैदिक काल से प्रवाहित ज्ञानधारा को युगानुरूप वैचारिकी या विचारवाद में ढ़ालते हुए समग्र **'हिन्दू दर्शन'** को **'एकात्म मानववाद'** नाम दिया। इस 'एकात्म मानववाद' रूपी वृक्ष की पृष्ठभूमि एवं आधार तो हिन्दू चिंतन था। दीनदयाल उपाध्याय जी ने **'हिन्दू चिंतन'** परम्परा के समुद्र का मंथनकर **'एकात्म मानववाद'** रूपी अमृत दर्शन हमें दिया, जिसकी पृष्ठभूमि अद्वैतवाद थी। लेकिन अल्पकाल में उनके परमधाम गमन के कारण **'एकात्म मानववाद'**की संकल्पना व्यावहारिक रूप नहीं ले सकी। इस संकल्पना/दर्शन में सब है, क्योंकि जैसे दुनिया के अन्य दर्शनों में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, विकास आदि पक्ष निहित रहते हैं। ठीक उसी प्रकार **'एकात्म मानववादी' दर्शन में भी आर्थिक, राजनीतिक विकासात्मक सहित सभी पक्ष सम्मिलित हैं।** हमें यहां **'एकात्म मानववाद'** के विकासात्मक दर्शन पर विमर्श करना है।

जैसा कि ऊपर हम विचार कर चुके हैं कि पश्चिम के विकासवादी दर्शन का केन्द्र मुनाफा, स्वार्थ एवं लाभ है। लेकिन**'हिन्दू'** आर्थिक चिंतन के आधार पर खड़े 'एकात्म मानववाद' का आधार अथवा केन्द्र परमार्थ है। इसलिए एकात्मक मानववादी विकास में विकास सिर्फ अर्थ के लिए नहीं वरन् परम्–अर्थ या परमार्थ के लिए है। हिन्दू आर्थिक दर्शन परम्परा में विकास की अवधारणा को समग्रता में व्यक्त किया गया **है। यह विकास त्रिगुण आधारित है। इस त्रिगुण में – सत्, रज, एवं तम सम्मिलित हैं। प्राचीन भारतीय चिंतन में सत्वादी विकास श्रेष्ठ है। इस सत्वादी विकास के तत्व हैं ज्ञान, तपस्या, सद्कर्म, प्रेम एवं समत्वभाव तथा इस का युग है सतयुग। एकात्म मानववादी विकास का दूसरा स्वरूप है रजस। इसका युग है त्रेता। इसका आधार है अहंबुद्धि, प्रतिष्ठा, मान बड़ाई, लौकिक–पारलौकिक सुख, मत्सर, दम्भ एवं लोभ। इसे मानवीय तथा मध्यम माना गया है। इसके अलावा विकास का तीसरा स्वरूप है – तमस। इसका युग है कलियुग। इसके आधार हैं – असत्य, माया, कपट, आलस्य, निंदा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय। इस प्रकार सत, रज एवं तम गुणों के आधार पर उक्त विकास के तीन रूपों के साथ एक मिश्रित विकास का भी माडल है, जिसमें– रजस एवं तमस गुण मिले होते हैं। इसी युग का नाम है– द्वापर तथा जिसका प्रतीक महाभारत कालीन विकास व्यवस्था है।**

इस प्रकार स्पष्ट है कि **भारतीय चिंतन परम्परा में विकास के उक्त चार प्रारूप हैं, मॉडल हैं, जिसे चार युगों का नाम दिया गया – सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग।** इसमें सबसे उत्तम सतयुगी विकास प्रारूप है तथा सबसे अधम कलियुगी विकास प्रारूप को माना गया है, लेकिन **महात्मा गांधी जी ने त्रेता के रामराज्य को अपना आदर्श माना**। स्वयं पं. दीनदयाल उपाध्यायजी ने गांधी जी के ट्रस्टीशिप एवं हिन्द स्वराज्य के विवेचन को भी अपने विमर्श में स्थान दिया है। इस प्रकार भारतीय चिंतन परम्परा का आदर्श रामराज्य है, जिसमें 'भरत' व जनक जैसे राजा तपस्वी के रूप में राज्य करते थे। स्वयं श्रीराम धर्म की मर्यादा को अपने लिए भी लागू करते हैं। कभी भी धर्म की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। प्रजा एवं प्रकृति की रक्षा एवं संवर्धन करते हैं। यह एक ऐसा विकास का प्रारूप है जो आज भी आदर्श है, क्योंकि **'रामराज्य'** की अवधारणा **'एकात्म मानवाद'** के आधारों पर खड़ी थी। यह शासन तथा विकास एवं व्यवस्था में सब की भागीदारी पर आधारित सब के लिए व्यवस्था थी, जो प्रकृति आधारित विकास पर बल देती थी।

वर्तमान में पश्चिम का विकासवाद व्यक्ति केन्द्रित है। वैश्वीकरण के नाम पर विकास का स्वरूप तय करने तथा विकास को संचालित करने का दायित्व शासक और नागरिक से हटकर कॉरपोरेट या कम्पनी में है, जो कि मुनाफा केन्द्रित तथा भौतिकवादी एवं अनात्मवादी है। **'एकात्म मानववादी' विकास, 'नहिं दरिद्र कोउ दुःखी न दीना' जैसे रामराज्य कालीन विकास को मान्यता** देता है। लेकिन **पश्चिम का भौतिकवादी विकास – डार्विन के सिद्धांतों के अनुरूप श्रेष्ठतम या समर्थ के विकास पर बल देता है, जिसमें राज्य और नागरिक विकास के नाम पर ठगा जाता है और धनिक अपना विकास करते रहते हैं। पश्चिमी विकासवाद में दीन–दरिद्र और पशु में, पशु कभी–कभी दीन–दरिद्र मानव से श्रेष्ठ हो जाता है। उसका उदाहरण है कुत्तों को दूध–भात और दरिद्र का बेटा भूखा सोता है। यह एक बड़ी विडम्बना है।** पश्चिम के इस अनात्मवादी तथा भौतिकवादी

विकास के कारण नगरीय विकास व औद्योगिक विकास चरम पर होता हैं, लेकिन श्रमिक तथा गरीब के पास धन हीनता के कारण औद्योगिक मंदी भी आती है, क्योंकि यदि खरीदार न हों तो बाजार ही बेकार। खरीददार इस कारण नहीं, क्योंकि गरीब तो गरीबी से लाचार। इसके विपरीत रामराज्य जैसी एकात्म मानववादी व्यवस्था में यदि **'न हि कोउ दुःखी दरिद्र न दीना जैसा रहे तो'** उद्योग, व्यापार तथा नगर बढ़ेंगे और मंदी भी नहीं आयेगी। इस कारण 'एकात्म मानववादी' विकास का अभिप्राय समग्र तथा समष्टि युक्त है। यह तो मात्र प्रस्तावना है। अभी शोध तथा तथ्यान्वेषण से **'एकात्म मानववादी विकास'** की स्पष्ट एवं समग्र रूपरेखा बनेगी जो सम्पूर्ण चराचर जगत को परस्पर एक मानकर एकत्व भाव से विकास को बढ़ायेगी और जिसमें कोई भी भेद–भाव नहीं होगा। इस प्रकार एकात्म मानववादी आर्थिक विकास का अर्थ है **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** अर्थात् अपने समान समस्त प्राणियों को मानकर विकास करना। गोस्वामी जी ने लिखा है कि **–'रामराज्य बैठे त्रैलोका'**। यह त्रैलोक समष्टि का पर्याय है। इसी कारण 'एकात्म मानववाद' में 'रामराज्य', भरत राज्य, जनक राज्य, वैदिक, पौराणिक सहित समस्त हिन्दू जीवन दर्शन सम्मिलित है। उसी की नवीन पहचान अथवा संज्ञा 'एकात्म मानववाद' हे। **'एकात्म मानववाद' आधारित आर्थिक विकास त्रिगुणात्मक विकास में सम्मिलित है। इसका आधार वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत, स्मृति, नीति–ग्रन्थ एवं वर्तमान का आध्यात्मिक चिंतन है।**

अध्ययन के श्रोत : इस अध्ययन में निम्न पुस्तकों की सामग्री अध्ययन का आधार रही है–

1. एकात्म मानववाद, पं0 दीनदयाल उपाध्याय, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. एकात्म मानव दर्शन, दत्तोपंत ठेंगडी, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. विकास का नया प्रतिमान–सुमंगलम– डॉ बजरंग लाल गुप्ता, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
4. विकल्प, डॉ0 मुरली मनोहर जोशी, सिद्धार्थ पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली।
5. श्री राम चरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर।
6. श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, गोरखपुर।
7. साखी, कबीर मठ, काशी।
8. Dictionary of economics, Oxford publication, UK
9. मानस पीयूस, गीताप्रेस, गोरखपुर।
10. ऋग्वेद, प्रज्ञा पीठ, हरिद्वार।
11. उपनिषद संग्रह, गीताप्रेस, गोरखपुर।

******

नर से नारायण बनने का सुपंथ –एकात्म मानवदर्शन

प्रो.माधवी मोहरिल[§]

डॉ0 स्मिता पत्तरकिने[**]

प्रस्तावना

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिदुःखभाग्भवेत्।।

भारतीय संस्कृति की यह पहचान सार्वभौम तथा सर्व समावेशक है। प्रकृति मे वास करता 'मैं' संस्कृति की डोर हाथ पकडे 'आनंद' तथा 'समाधान' की खोज मे निकल पड़ता है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता विभिन्न विचारधाराओं से अलग अपनी पहचान अखिल विश्व मे बनाए है। चराचर मे वास करते पशु–पक्षी, किटक, पेड़, धरा, आसमान, सागर, सभी को समेटे हुए प्रकृति की सर्वांगसुंदर निर्मिति 'मनुष्य' माना जाता है। यह कहा जाता है कि जलचर से जीव की निर्मिति आरंभ हुई। सृष्टि की उत्पत्ति मे मछली से लेकर एक–एक विकसित रचनाऐं प्रकृति करती आ रही है। जलमे रहनेवाले 'जलचर', भूमि तथा पानी मे रहनेवाले 'उभयचर' तथा भूमि पर जन्म पाकर भूमि पर ही रहनेवाले 'भूचर'। यह सृष्टि के विकास के पथ पर एक से एक सुंदर निर्मितियाँ प्रकृति द्वारा की गई है। हरेक जीव को अपने स्वतंत्र अस्तित्व तथा विशेषता के साथ संजोते हुए एक निपुण कलाकार की भांति प्रकृति ने अपनी अबतक की सर्वोत्कृष्ट जीती–जागती रचना 'मानव' के रूप में बनाई है।

हर एक रचना निर्माण करते हुए प्रकृति ने निर्माता, रचयिता, संरक्षक, 'पिता' की भूमिका निभाई है। मनुष्य को सुख, आनंद तथा समृद्धि के लिए प्रकृति ने वृक्ष, पानी, हवा, जमीन, जैसे अनमोल साधन दिये, जैसे माँ अपने सबसे होशियार, कुशल पुत्र या पुत्री को उसकी उन्नति के लिए वह सब कुछ देती है जो वह दे सकती है, जिससे वह होनहार बच्चा खुशी, आनंद, तथा समृद्धि से एक नये सुंदर जीवन का निर्माण करे। ऐसा ही दान प्रकृति ने इन्सान को दिया। प्राप्त सभी सुविधाओं के साथ निर्माण हुआ इन्सान अपने बुद्धि से विचार कर प्रगति के पग पर सवार हो कर आसमान की बुलंदियों को छुने की कोशिश करता आ रहा है। मानव द्वारा अपनी अलग–अलग पहचान कायम रखते हुए तथा अखिल समष्टि को समेटे हुए संभालना एवं अपने साथ अपने पथ को समृद्धि के राह पर चलने मे मदद करके जीवन को संपूर्णता (परिपूर्णता) की ओर ले चलना इसी विचार दर्शन को 'एकात्म मानववाद' कहा जाता है।

आज सब प्रकार के 'वाद' मनुष्य की आधारभूत आर्थिक समस्याओं का सुंदर, सुखकारक, एवं शान्तिपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने मे अपने आपको असहाय पा रहे हैं। विभिन्न नीतियों, दर्शनों एवं दृष्टिकोणों के दीर्घकालीन अनुभवों के बाद आज संपूर्ण संसार एक नए वैकल्पिक दृष्टिकोण की बड़ी आतुरता से प्रतिक्षा कर रहा है।

हम अमृत के पुत्र है

[§] सहायक प्राध्यापिका अंग्रेजी विभाग, राजकुमार केवलरामानी कन्या महाविद्यालय, जरिपटका, नागपुर

E-mail: pimplemadhavi@yahoo.com

[**] सहायक प्राध्यापिका, गृह अर्थशास्त्र विभाग, राजकुमार केवलरामानी कन्या महाविद्यालय, जरिपटका, Email: pattarkinesmita@gmail.com

प्रकृति की सर्वांग सुंदर रचना 'मानव' की शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक रचना ऐसी है कि वह जीव विकास के प्रवाह का सर्वोत्तम रूप है, जो समूह मे आनंद, समाधान तथा पुर्णत्व की अनुभूति पा सकता है। इसी प्राकृतिक सिद्धांत के साथ समाज रचना का प्रारंभ हुआ। इस समाज की निर्मिति व्यक्ति से व्यक्ति को उनके विभिन्नता तथा समानता के साथ बांधते, संघर्ष करते, स्वीकार करते तथा इस व्यवस्था को आकार देते कई युगों से की जा रही है। समाज संस्था परिवर्तनशील मानी जाती है। बदलते संदर्भों, स्थितियों में विभिन्न लोगों को उनके विशेषताओं को स्वीकार करते हुए एक सूत्र में बांधती, संजोती विशाल रचना का नाम है समाज। परन्तु हर युग में समाज रचना का उद्देश्य तथा ध्येय व्यक्ति का सुख तथा सुरक्षा रहा है। समाज में एकता रखने की कोशिश करते मानव ने इस समाज को एक समृद्ध आकार देने की कोशिश की, जिसको 'संस्कृति' यह संज्ञा दी जाती है। इस आकार का उद्देश्य यही है कि मानव, मानव के साथ जब समूह में रहता है तो अपने स्वार्थ को पूर्ण करने से पहले अपने साथी, परिवार की जिम्मेदारी उठाये। परिवारों से बनता, समाज, समाज से बनता राष्ट्र इसी संस्कृति के आधार पर अपनी पहचान बनाता है। भारतीय संस्कृति के आधार पर खड़ा हुआ भारतीय समाज 'परमार्थ' को 'स्वार्थ' से ऊपर का स्थान देता है। भारतीय संस्कृति की नीव 'समर्पण' भाव से मूल्यों के आधार पर एक दूसरे से बंधी हुई विश्वशान्ति, विश्वसुख तथा वैश्विक समाधान पर खड़ी है। यह संस्कृति आगे बढ़कर मानववाद अथवा मानवदर्शन की ओर ले जाने की कोशिश सदियों से करती आ रही है। परिवार के बुजुर्ग के नाते, समझदार घटक के नाते, अपने साथ प्रकृति के अनेक निर्मितियों के जीवन को स्वीकार करते हुऐ, 'आत्मा में परमात्मा का दर्शन' भारतीय मनुष्य करने की कोशिश करता है। भारतीय संस्कृति, प्रकृति के हर निर्मिति तथा हर रूप को दिव्य शक्ति का अंश मानती है। मनुष्य में भगवान् का रुप खोजने की कोशिश करने की प्रेरणा देनेवाली भारतीय संस्कृति, 'एकात्म मानवदर्शन' की ओर ले जाती है।

मंगल भवन अमंगलहारी–

भारतीय संस्कृति में पलने वाला, उभरने वाला व्यक्तित्व जिस नीव पर खड़ा रहता है, वह है 'परिवार'। भारतीय संस्कृति में परिवार का महत्व उल्लेखनीय है। संस्कारित, सुखी, समाधानी परिवार में जन्म लेकर बालक उस परिवार के संस्कार, विचारधारा तथा सहयोग के मूल्यों को खुद में विकसित करते हुए बड़ा होता है। व्यक्तित्व निर्माण के आरंभ में परिवार से मिलने वाले संस्कार मूल्य आधारित हों तो उससे उभरने वाला व्यक्तित्व –'मैं' के आगे 'हम' यह सीख परिवार से ही लेता है। मेरा जीवन सिर्फ मेरा न होकर वह मेरे परिवार के प्रति जिम्मेदारियों से बंधा है, यह भाव परिवार में पलने वाले, बढ़ने वाले बालक को दूसरों के प्रति कर्तव्य का ज्ञान कराता है। यही बालक समाज में 'नागरिक' की भूमिका जब निभाता है तो बचपन में मिले संस्कार नागरिक की भूमिका में भी नही भूलता। मैं से ऊपर परिवार, परिवार से उपर समाज, समाज से उपर राष्ट्र, राष्ट्र के उपर मानवता, मानवता के आगे अखिल सृष्टि से मेल खाता 'एकात्म मानवदर्शन' यह सोपान चढ़ने की शिक्षा भारतीय पारिवारिक संस्था उसे देती है। इसीलिये भारतीय परिवार संस्था भारतीय संस्कृति की नीव मानी जाती है, लेकिन वर्तमान युग में संयुक्त परिवार पद्धति बिखर के विभक्त परिवार पद्धति में बदलती जा रही है। एकात्म मानवदर्शन तक पहुचने वाली सीढ़ी की नीव कमजोर होती जा रही है। परिणाम स्वरुप अखिल सृष्टि में फैले दिव्यांश का अंश 'मैं' मे जकड़ा हुआ है।

समृद्धि धन संपदा

प्रकृति ने मनुष्य का निर्माण किया तथा इस मनुष्य के शरीर के मध्य 'पेट' नाम का अंग दिया, जिसे भरने का कष्ट उसे उठाना ही पडता है। मनुष्य ने प्रगति किया। अति प्रगति करके अन्य ग्रहों पर भी राज्य करेगा, किन्तु खुद को जिंदा रखने के लिए उसे अपने पेट को यहाँ के जल एवं अन्न की समिधा से ही संतुष्ट करना पड़ेगा, यह वास्तविकता है।

आज भारत का भविष्य की महासत्ता बनने का रास्ता खुल रहा है। अनेक योगी, ज्ञानी, चिंतनशील विचारवान् महानुभाव इस कार्य को ध्येय मानकर जीवनपथ पर चल पड़े हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि घर–गृहस्थी के चक्र मे फसे किसी सामान्य व्यक्ति से जब देश, धर्म, साहित्य, समाज, शिक्षा आदि विषय पर चर्चा कि जाए तो पहले वह अपनी चूल्हा, लकड़ी, दो वक्त की रोटी के विषय मे विचार करता है। इसलिए कहा है कि,

'भूल गये राग–रंग, भूल गये छकड़ी'

तीन चीज याद रही, नून तेल लकड़ी'।

अपनी रोटी के चिंतन मे जिंदगी बिताने वाला सामान्य व्यक्ति सामाजिक, राष्ट्रीय जिम्मेदारी से जुड़े जीवन के अलग–अलग पहलुओं के विषय में सोच नही पाता है। इसी कारण से अर्थोत्पादन जीवन का आधार ही नही, संपूर्ण जीवन का उद्देश्य बन गया है। यह शोकांतिका भी कही जा सकती है। परंतु दूसरी ओर से सोचा जाये तो हमारी परंपरा और संस्कृति यह मानती है कि अध्यात्मिकता मनुष्य के मन की जरुरत है, केवल भौतिकता के संग मनुष्य अधूरा है। भौतिकता अपने मर्यादाओं के साथ बंधी है। मनुष्य को पूर्णतः संतुष्ट करने मे वह असमर्थ है। अतः पं. दीनदयाल उपाध्यायजी कहते है, ''मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं और इच्छाओं का पिण्ड नहीं अपितु यह एक अध्यात्मिक तत्व है, जिसने शरीर धारण किया है''। मनुष्य के सुखी जीवन का उद्देश्य सामने रखते हुए भारत में ऐसे अर्थनैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने की जरुरत है जो समाज जीवन के सर्वसंग्राही भाव को जागृत कर समाधान करे।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि हर कठिन सिद्धांत को वह प्रतीकों के माध्यम से सामान्य लोगों तक पहुचाती है। अतः उस सिद्धांत का वास्तविक जीवन मे अनुसरण करना सरल होता है। जीवन में 'अर्थ' का महत्व भारतीय मनीषियों ने मान्य किया, किन्तु यह माना जाता है कि यह जीवन नैतिक नियमों के अधीन है। इसलिये धर्म को अर्थशास्त्र का मूल आधार घोषित किया गया है। अर्थ का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी यह जीवन का साधन माना गया है, साध्य नहीं। यह जीवन का एक भाग माना जाता है, संपूर्ण जीवन नहीं। इसीलिये कौटिल्य ने कहा, 'अर्थशास्त्रास्त् तु बलवदत धर्मशास्त्रे स्मृतः'। चार पुरुषार्थो के क्रम में धर्म के बाद ही अर्थ का स्थान इस बात का प्रमाण है।

महाभारत के शांतिपर्व में नकुल व सहदेव ने धन और धर्म के बीच सुंदर समन्वय किया है कि ''धर्मयुक्त धन तथा धनयुक्त धर्म ही संसार में अच्छा परिणाम ला सकता है''। अर्थ चिंतक एडम स्मिथ अर्थशास्त्र को एक नैतिक अर्थरचना का विज्ञान मानते हैं, जब कभी इन नैतिक नियमों का उल्लंघन होता है तब समाज का ढांचा हिलता है तथा अराजकता का निर्माण होता है।

भारतीय संस्कृति अर्थ के प्रतीक को 'लक्ष्मी' 'श्री' के रूप में पुजती है। संपन्नता, वैभव का प्रतीक मानी जाने वाली लक्ष्मी देवता भौतिक अलंकारों से पूर्ण हैं, लेकिन ध्यान मे स्थित माँ लक्ष्मी के हस्त 'दान' के लिये खुले हैं। ध्यान मुद्रा यह दर्शाती है कि 'अर्थ' प्राप्त करने के बाद भी जीवन को संपूर्णता की ओर ले जाने के लिये उसका सुयोग्य नियोजन ही समाधान देता है। 'अर्थ' को दान किया जाये तो वह संतुष्टि समाज के प्रति कर्तव्य का भाव जागृत करती है। प्राप्त किया धन मैं तक सीमित न होते हुए उसका विनियोग समाज की सेवा के लिये करने से लक्ष्मी समाधान का सुख देती हैं नहीं तो अर्थ से आने वाली चिंताओं से मनुष्य के जीवन का संतुलन खो जाता है।

भारतीय वर्तमान अर्थनीति पश्चिमी विकास के सिद्धान्त की नींव पर खड़ी है, किन्तु पश्चिम का विकास सिद्धान्त मनुष्य को अर्थमानव बनाते हुए दिखाई देता है। अर्थ को ही परमार्थ मानने की मानसिकता पश्चिमी

विचार का प्रभाव है। इस विचारधारा का परिणाम भविष्य मे गंभीर दुष्परिणामों को आमंत्रण देने वाला सिद्ध होगा।

भारतीय संस्कृति 'अर्थ' को मोक्ष के द्वार पहुँचाने वाले चार पुरुषार्थों में से एक के रूप में स्थान देती है। किंतु अर्थ को ही जीवन का परमोच्च साधन मानने वाला अर्थमानव अपने विवेक का नाश कर देता है। इससे नैतिक समाज का निर्माण होना असंभव है। परिवार को जिम्मेदारी तथा प्रेम से संजोने वाला भारतीय मनुष्य अर्थमानव बन गया तो अपने रिश्तों की डोर वह संभाल नही पाएगा। भारतीय संस्कृति मे परिवार में रहने वाला मनुष्य विश्व के किसी भी कोने मे जाए अकेला नही रहता, लेकिन अर्थमानव, भौतिक उपभोग में, यंत्रों व वस्तुओं मे अकेला पड़ जाएगा।

भारतीय अर्थनीति जिस पश्चिमी विकासवादी विचारधारा पर आधारित है वह मार्क्स के सिद्धान्तों पर चलती है। यह विचारधारा मानती है कि विभिन्न आर्थिक वर्गो एवं आर्थिक इकाइयों के बीच विभिन्न स्तरों पर संघर्ष चलता है, जिसके परिणाम स्वरुप ही अर्थव्यवस्था में संतुलन निर्माण होता है। इसमे आर्थिक दृष्टि से कमजोर अपने आप नष्ट होता जाता है। इसलिए उपभोग, संपत्ति, भौतिकता अपनी जड़ें मनुष्य की जिंदगी मे फैलाती चली जाती है।

आज का भारतीय अर्थविकास अनेक चुनौतियों का सामना कर रहा है, जैसे कि रोजगार के अवसरों का पर्याप्त मात्रा मे विस्तार करने में यह अर्थव्यवस्था असफल सिद्ध हो रही है। यह विकास असंतुलित है। विकास का अवसर अधिकतर संपन्न वर्ग को ही प्राप्त होता दिखाई दे रहा है, जिस के फलस्वरूप अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब होते दिखाई दे रहे हैं।

वर्तमान आर्थिक विकास देश के सांस्कृतिक पहचान को जड़ से उखाड़ दे रहा है। औद्योगिक विकास को ही विकास का द्वार मानने वाली संस्कृति लोगों को विस्थापित कर रही है तथा अपने घरेलू एवं प्राचीन रोजगारों से वंचित कर रही है। इसलिए यह विकास भविष्यहीन है, संस्कारहीन है, तथा पश्चिमी विकास पर आधारित है।

भारत को विश्वगुरु का स्थान आर्थिक रूप से प्राप्त करने के लिए ग्राम आधारित भारत को कार्यान्वित करना होगा। जबतक स्वयंपूर्ण, स्वावलंबी (आत्मनिर्भर) गांव थे तब तक भारत की संस्कृति सुरक्षित थी। भारतीय ग्राम आर्थिक संरचना की कसौटी तथा स्वावलंबी बने तो उसी मे भारत का उत्थान है। इसलिये विनोबा जी के भू–दान तथा ग्रामस्वराज्य की संकल्पना को अस्तित्व मे लाना चाहिए।

भारतीय अर्थनीति मे खुली बाजार प्रतियोगिता अपनायी गयी है। व्यापार के वैश्वीकरण के इस युग मे विकासशील देशों को मिलने वाला लाभ यह उस देश के लोगों की बुद्धिमत्तापूर्ण निवेश में परिवर्तित करना चाहिये। आम जनता को इस प्रक्रिया में भागीदार बनाना होगा तभी इस वैश्वीकरण के बजार में विकास को बनाए रखना संभव है। आर्थिक विकास के इस प्रयास में गरीब व्यक्ति से लेकर अमीर तक, कुशल कारीगर से लेकर बुद्धिमान वैज्ञानिक तक हर कोई कार्य से संतुष्ट तथा अर्थप्राप्ति से समाधान प्राप्त कर सके। आर्थिक दृष्टि से सुमंगलता आए यह भावना रखने वाले हर नागरिक की तमन्ना डॉ.बजरंगलाल गुप्ता इस तरह स्पष्ट करते है। ''सुमंगलम् से तात्पर्य है की मुख्यतः स्वसाधनों से देश के समस्त लोगों के जीवनस्तर को दीर्घकाल में ऊपर उठाते हुऐ समग्र सामाजिक सुख मे वृद्धि करना एवम् सबको मंगल की दिशा मे आगे बढ़ाना''।

सुमंगलम् के पांच आधारस्तंभ उर्जा, परिस्थिति, अर्थव्यवस्था, नैतिकता और रोजगार हैं। यदि हम इन पाँच तत्वों के बीच उचित समन्वय बनाये रख सके तो इसमे से एक नये प्रकार की सामाजिक, आर्थिक संरचना

जन्म लेगी। इस नव रचना के तीन आधारभूत सूत्र होंगे : पोषणक्षम अर्थलाभ, धारणक्षम तकनीकी और संस्कारक्षम समाज तंत्र। इस सुमंगल की संज्ञा से भारतीय अर्थनीति बंधी होनी चाहिये।

भारतीय संस्कृति, प्रकृति के स्वाभाविक 'दान' से विकसित हुई है। ब्रम्हांड में जीवन निर्माण का विचार किया जाए तो यह दिखता है कि जीवनशक्ति एक ऊर्जा है जो सृष्टि को 'चेतना' प्रदान करती है। उस चेतना का अंश हर निर्मिति में है जो प्रकृति से जन्म लेती है। 'मनुष्य' भी इसी शक्ति का एक अंश है। जीवनशक्ति जो सिर्फ 'देना' जानती है उस दानत्व को ही 'परमार्थ' की संज्ञा मनुष्य जीवन में दी जाती है। जीवनशक्ति के इस दान भाव का स्वाभाविक सिद्धांत ही 'एकात्मदर्शन' है। प्रकृति की सर्वोच्च निर्मिति मनुष्य इस सिद्धांत को समझकर अपने जीवन में उसका अनुसरण करेगा तब ही 'एकात्मदर्शन' समाज में अवतरीत होना संभाव है।

नर से नारायण की ओर

''सर्व मंगल मांगल्ये' यही भावना भारतीय जीवन दर्शन का आधार है। कलियुग में गौतम बुद्ध जैसे योगी ने, महात्मा गांधी जैसे समाजसेवी ने, विवेकानंद जैसे युवा आध्यात्मिक राष्ट्र चिंतक ने, पं.दीनदयाल उपाध्याय जैसे कर्मयोगी ने, इसी विचारधारा को सम्मुख रखकर आजीवन समाज के लिए कार्य किया। आदर्श समाज समाजव्यवस्था परस्पर संघर्ष से नहीं बल्की आपस मे सहयोग से बुनी जाती है। भौतिकता की इस दौड़ में अर्थप्राप्ति करने के लिए हर कोई दौड़ रहा है, अर्थ को जीवन का अंतिम सत्य मानकर जीवन उसी के साधना मे व्यतीत कर रहा है। किन्तु यह भी महत्वपूर्ण पहलू है कि आदिवासी, वनवासी इस दौड़ से कोसों दूर रहकर भी शांति तथा सरलता से परस्पर सहयोग तथा स्वावलंबन से अपनी जिंदगी सदियों से जीते आ रहे हैं। इस सन्दर्भ में डॉ.राधाकृष्णन कहते है कि ''हमने पंछी की तरह आसमान मे उड़ना सीखा, मछली की तरह पानी मे तैरना सीखा, किन्तु पृथ्वी पर इन्सान की तरह जीना हम भूल गये हैं''। यह शोकांतिका इसलिए है कि हम धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के पथपर चलने वाले सुमार्गी (सुपन्थी) धर्म तथा मोक्ष की गहराई तथा उसके महत्व को समझने की कोशिश ही नहीं करते। धर्म तथा मोक्ष की ओर जाने वाले रास्ते खुद के लिए निरपेक्ष भाव व समाज के लिए समर्पितता की सीख देते हैं। अर्थ तथा काम के सुख मे अन्धा हुआ इन्सान 'त्याग' का मूल्य भूल गया है और इसी कारण परस्पर सहयोग, परस्पर प्रेम, परस्पर आत्मभाव, परस्पर विश्वास की भावना जागृत करने मे वह असमर्थ साबित हो रहा है।

इसलिए आवश्यकता है कि 'मैं' के आगे 'हम' का भाव जगाने वाला 'एकात्म मानववाद' मनुष्य में फिर से जागृत किया जाये तभी पृथ्वी पर मनुष्य समग्रता के साथ 'सर्वतोभद्र' विकसित कर पाएगा। एकात्म मानवदर्शन से सम्यक विकास को पाकर ही भारतीय जीवन दर्शन सही अर्थ मे पृथ्वीपर स्वर्ग की अनुभूति प्रदान कर सकेगा।

संपूर्णता की ओर ले जाने वाला मोक्ष का द्वार इस भाव के राह से जाता है। अपूर्ण' मानव पूर्णत्व को आदर्श मानकर जिंदगी भर उस स्थिति को पाने की कोशिश करता है। लेकिन खुद के लिये चिंतन करते, स्वार्थ से ओतप्रोत जीवन जीते हुए यह पूर्णत्व का भाव वह जी नहीं पाता। 'नर से नारायण' तक जीवन का प्रवास अकेले चलकर साध्य नहीं हो सकता। इसलिये 'पूर्ण', 'शाश्वत', 'सुंदर' प्रकृति के गर्भ से निकले मनुष्य को मानव के रूप में जन्म लेने के बाद 'अहम्', 'मैं' का त्याग कर, उस पूर्णत्व को समझकर, 'वसुधैव 'कुटुम्बकम्' के यथार्थ को समझना होगा। ब्रम्हांड की निर्मिति, पोषण तथा विनाश करने वाली शक्ति का अंश प्रकृति के हर रूप, रंग मे, सम्मिलित है। एकात्म मानवदर्शन इसी यथार्थ की समझ है और एक पूर्ण सृष्टि से, पूर्णत्व का निर्माण यही सृष्टि का नियम है, जो हमारी भारतीय संस्कृति विश्व को सिखाती है।

ॐ पूर्णमदम्, पूर्ण मिंदम्, पूर्णात पूर्ण मुदच्यते। पूर्णस्य पूर्ण मादाय, पूर्ण मेवावशिष्यते।

इसी भाव को समझाता 'एकात्म मानव दर्शन' ही समाज में मनुष्य को पूर्णत्व को समझाने में सहयोग कर सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. एकात्म मानववाद, पं.दीनदयाल उपाध्याय– अर्चना प्रकाशन, ए 17 पं.दीनदयाल परिसर–ई–2, महाविर नगर, भोपाल.
2. एकात्म मानववाद–एक अध्ययन– द.बा.ठेंगडी, भानु प्रताप शुक्ला, भारतीय संस्कृति पुनरुत्थान समिति, उत्तर प्रदेश.
3. विचार दर्शन– क.रा.रंगनाथराव,रा.स्व.संघ, प्रकाशन विभाग, नागपुर
4. हिन्दू अर्थशास्त्र– प्रो.उदय जैन, अर्चना प्रकाशन, बी–17 दीनदयाल परिसर, ई–2, महावीर नगर, भोपाल
5. विकास का नया प्रतिमान– सुमंगलम, डॉ.बजरंगलाल गुप्त, सुरुचि प्रकाशन, केशव कुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली.
6. भारतीय अर्थ नीति विकास की एक दिशा– प.दीनदयाल उपाध्याय, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
7. राष्ट्रजीवन की दिशा– प.दीनदयाल उपाध्याय, लोकहित प्रकाशन, 'संस्कृति भवन' राजेंद्र नगर, लखनऊ

******

एकात्म मानववाद के विशेष संदर्भ में आर्थिक विकास

अनिल कुमार[††]

प्रो. ए. पी. पाण्डेय[‡‡]

अज्ञान को मिटाने के लिए ज्ञान की मशाल उठाओ, और गरीबी खत्म करने के लिए आर्थिक विकास की रोशनी फैलाओ। हमारे प्राचीन ऋषियों और सन्तों का यही निरन्तर उपदेश है। पं0 दीनदयाल जी जीवन भर हमारे प्राचीन ऋषियों के आदेश पर चलते रहे। इसके लिए उन्होंने सामाजिक सेवा के क्षेत्र को चुना और अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया। ऐसे व्यक्ति महामानव होते हैं। वे प्राचीन ऋषियों–मुनियों की कोटि में थे, वे जनता के सच्चे सेवक थे।

–श्री चन्द्रशेखर जी

इस पावन भूमि भारत देश ने अनेक विद्वानों एवं महापुरुषों को जन्म दिया है। इन्हीं महापुरुषों में से एक थे, हमारे पं. दीनदयाल जी। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी का जन्म 25 सितम्बर 1916 को मथुरा जिले के एक छोटे से गांव ''नगला चन्द्रभान'' में हुआ था। इनका बचपन संघर्षों में बीता, फिर भी वे पढ़ाई जारी रखे और 1937 में इण्टर की परीक्षा सर्वोच्च अंक के साथ पास किए। आगे चलकर वे ''राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ'' से जुड़े और देश–सेवा तथा राष्ट्रीय एकता के लिए निकल पड़े। वे जीवन भर देश–सेवा में लगे रहे और अन्ततः इस महात्मा का 11 फरवरी 1968 को असामयिक निधन हो गया। दीनदयाल जी एक श्रेष्ठ विचारक ही नहीं बल्कि एक महान दार्शनिक, कुशल राजनीतिज्ञ और एक श्रेष्ठ आर्थिक चिंतक थे। दीनदयाल जी साहित्य प्रेमी थे, उन्होंने हिन्दी एवं अंग्रेजी में कई लेख भी लिखे। दीनदयाल जी लखनऊ में ''राष्ट्र धर्म प्रकाशन'' नामक प्रकाशन संस्थान के संस्थापकों में थे। मासिक पत्रिका ''राष्ट्रधर्म'' तथा साप्ताहिक ''पांचजन्य'' व दैनिक ''स्वदेश'' पत्रिकाओं के प्रारम्भ करने में उनकी केन्द्रीय भूमिका रही। वे अपने विचारों को इन्हीं पत्रिकाओं व लेखों के माध्यम से जनता तक पहुंचाते थे।

पं0 दीनदयाल जी ने मानव के शाश्वत खुशी के लिए एक नए विचार व दर्शन को प्रतिपादित किया, जिसे दुनिया ''एकात्म मानववाद'' के नाम से जानती है। एकात्म मानववाद न केवल एक दार्शनिक विचारधारा है, अपितु यह एक आर्थिक दर्शन भी है, जो वर्तमान आर्थिक समस्याओं को दूर करने में सक्षम है। वर्तमान आर्थिक समस्या ''आर्थिक विकास'' की गलत अवधारणा के कारण है, जिसके फलस्वरूप मानव जगत को शाश्वत सुख प्राप्त नहीं हो पा रहा है। लेकिन हम ''एकात्म मानववाद'' व दीनदयाल जी के आर्थिक दर्शन को अपनाकर मानव जगत को शाश्वत सुख प्रदान कर सकते हैं।

पं0 दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद व आर्थिक दर्शन

दीनदयाल जी का आर्थिक दर्शन ''एकात्म मानववाद'' की विचारधारा में निहित है। ''एकात्म मानववाद'' का अर्थ है– सभी में समन्वय स्थापित करके मानव जगत को शाश्वत सुख प्रदान करना। जब विश्व अर्थव्यवस्था पूंजीवाद एवं साम्यवाद में बंटी जा रही थी, तब भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए यह बहुत संकट की घड़ी थी कि वह किस व्यवस्था को अपनाए। पूंजीवाद में मानव को मशीन का एक पुर्जा मान लिया जाता है इस व्यवस्था से धनी और धनी होता है तथा गरीब और ज्यादा गरीब हो जाता है। जबकि साम्यवाद में

[††] शोध छात्र, अर्थशास्त्र विभाग, समाज विज्ञान संकाय, का.हि.वि.वि.

[‡‡] अर्थशास्त्र विभाग, समाज विज्ञान संकाय, का.हि.वि.वि. वाराणसी–221005

सरकारी उपक्रम घाटे में होते हैं, जनता वस्तु की आपूर्ति के कमी के कारण महंगाई से त्रस्त रहती है, और भ्रष्टाचार तेजी से बढ़ता है।

ऐसे में जरूरी है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक नयी व्यवस्था खड़ी की जाए। इसको अनुभव करते हुए दीनदयाल जी ने एक नयी व्यवस्था ''एकात्म मानववाद'' का प्रतिपादन किया, जो इस बात पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है कि न उपभोग का अति हो और न ही उत्पादन का दोनों में समन्वय हो। दीनदयाल जी का मानना था कि पश्चिमी विचारधारा शरीर को महत्व देती है और भारतीय विचारधारा आत्मा को। यदि मानव जगत केवल शरीर के विषय में सोचे तब एक मानव का दूसरे मानव से कोई संबंध नहीं रहेगा और विश्वबन्धुत्व व मानवता का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। ऐसे में मानव को शाश्वत खुशी नहीं प्राप्त होगी और यदि मानव आत्मा के विषय में सोचे तब भी उसे शाश्वत खुशी नहीं प्राप्त होगी, क्योंकि बिना शरीरिक सुख के आत्मिक सुख की प्राप्ति नहीं होगी। अतः दीनदयाल जी ने अपने दर्शन ''एकात्म मानववाद'' के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि मानव तभी शाश्वत सुख प्राप्त करेगा जब शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा में समन्वय हो।

दीनदयाल जी का मानना था कि ''कोई भी राष्ट्र हो उसकी पहचान उसकी संस्कृति'' से होती है। भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की बात कही गई है। यदि मानव धर्म की केवल बात करें तब भी सही नहीं है क्योंकि मानव का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है, और इसके लिए मानव को धर्म को आधार बनाकर अर्थ, काम को माध्यम मानकर मोक्षरूपी उद्देश्य प्राप्त करना चाहिए अर्थात् सभी में समन्वय स्थापित करके ही मानव शाश्वत सुख प्राप्त कर सकता है।

दीनदयाल जी का विचार था कि राष्ट्र का एक उद्देश्य होता है, और राज्य उस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन। अतः राज्य समय–समय पर परिवर्तित हो सकता है। राष्ट्र के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु व्यक्ति, परिवार, समाज व राज्य में समन्वय हो, यदि व्यक्ति तथा परिवार के उद्देश्य अलग–अलग हों तब दोनों के बीच विवाद हो जाएगा। ऐसे में राष्ट्र अपने उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकता।

पं0 दीनदयाल जी ने अपने दर्शन ''एकात्म मानववाद'' में आर्थिक विचार भी प्रस्तुत किये हैं, जो भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। उन्होंने विदेशी व्यापार नीति, अर्थव्यवस्था के नियंत्रण, समाजवाद, योजना, औद्योगीकरण, ग्रामों का विकास, विकेन्द्रीकरण व स्वदेशी जैसे आर्थिक मुद्दों पर अपने आर्थिक विचार दिए।

दीनदयाल जी का मानना था कि हमें विदेशी ऋणों पर ज्यादा निर्भर नहीं होना चाहिए। हमें अपने देश की पूंजी व संसाधन का अधिक उपभोग करना चाहिए। यदि विदेशी ऋण लिया भी जाय तो उसका उपयोग उत्पादक क्षेत्रों में किया जाय। वरना विदेशी घाटा हमारी अर्थव्यवस्था को झकझोर कर रख देगा। समाजवादी ढांचे के सन्दर्भ में दीनदयाल जी का मानना था कि यह व्यवस्था देश के लिए भार बन गयी है। जितने भी सरकारी उपक्रम हैं वे प्रायः घाटे में चल रहे हैं, और कार्यरत अधिकारी लालचवश घोटाला कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें अपनी चिन्ता है, कारखाने की नहीं।

दीनदयाल जी ने सरकारी योजनाओं खासतौर पर बड़े उद्योग के विस्तार योजना का जबरदस्त विरोध किया, क्योंकि उनका मानना था कि ऐसी योजनाएं भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए सही नहीं है। क्योंकि बड़े उद्योगों को बढ़ावा देना देश में आर्थिक असमानता, बेरोजगारी व गरीबी को बढ़ावा देना है, उन्होंने स्वदेशी उद्योगों को बढ़ाने वाले योजना का समर्थन किया।

दीनदयाल जी ने ग्रामीण विकास पर बहुत बल दिया, वे पूंजी का विकेन्द्रीकरण चाहते थे। वे चाहते थे कि ऐसी व्यवस्था स्थापित की जाय, जिससे गांवों में ही रोजगार मिले, गांवों में ही उद्योग स्थापित किये जायें, जिससे लोगों को शहर न जाना पड़े और विकेन्द्रीकरण के अन्तर्गत छोटे–छोटे उद्योग धन्धे तथा कुटीर उद्योग

लगाए जायें, जिससे सभी को रोजगार प्राप्त हो, आर्थिक असमानता कम हो, गरीबी कम हो। दीनदयाल जी का मानना था कि विज्ञान और तकनीकी के माध्यम से उद्योगों के विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा दिया जा सकता है और उद्योग प्रायः व्यक्ति, परिवार या सहकारी तौर पर चलाये जा सकते हैं जो कि हमारी अर्थव्यवस्था के आधार है।

पं0 दीनदयाल जी के ''एकात्म मानववाद व आर्थिक दर्शन'' की आर्थिक विकास हेतु प्रासंगिकता

दीनदयाल जी के आर्थिक दर्शन को यदि उसे सही तरीके से अर्थव्यवस्था पर लागू कर दिया जाये तो हम आर्थिक विकास के लक्ष्य को आसानी से पा सकते हैं, और जो वर्तमान आर्थिक समस्या है, जैसे– गरीबी, बेरोजगारी, आय की असमानता आदि उसे दूर कर सकते हैं। अतः वर्तमान में दीनदयाल जी के आर्थिक दर्शन की आर्थिक विकास हेतु प्रासंगिकता और बढ़ जाती है।

आर्थिक विकास का मूल उद्देश्य मानव विकास तथा समाज और लोगों का अधिकतम कल्याण करना है। परन्तु सर्वाधिक कल्याण की प्राप्ति तभी होगी जबकि विकास से उत्पन्न फल का सभी में वितरण समान रूप से हो।

वर्तमान में आर्थिक विकास पाने की मुख्यतः दो रणनीतियां है–

1. नीचे बहने की रणनीति (Trickle Down Strategy)
2. समावेशी विकास रणनीति (Inclusive Develompent Strategy)

ट्रिकल डाउन रणनीति में देश भारी उद्योगों पर निवेश करता है, और यह मानकर चलता है कि इससे आर्थिक वृद्धि तेज होगी, राष्ट्रीय आय बढ़ेगी। बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय रिसकर नीचे की ओर आएगी, तथा जो नीचे तबके के लोग हैं, उनकी आय तथा जीवन स्तर बढ़ाएगी। परन्तु विकास की यह रणनीति सही नहीं है, क्योंकि राष्ट्रीय आय के नीचे रिसने के लिए रोजगार रूपी माध्यम की जरूरत पड़ती है, लेकिन इस विकास की रणनीति में रोजगार ही नहीं उत्पन्न हो पाता, और राष्ट्रीय आय देश के कुछ लोगों के हाथों में ही सिमट कर रह जाती है। जो आगे चलकर बेरोजगारी, गरीबी व आय की असमानता को जन्म देती है। अतः यह भारतीय अर्थव्यवस्था तथा आर्थिक विकास हेतु सही रणनीति नहीं है।

जबकि समावेशी विकास रणनीति, आर्थिक विकास की वितरणात्मक पहलू है, जो केवल इससे सम्बन्धित नहीं है कि आर्थिक वृद्धि दर क्या है, कितनी ऊँची है, बल्कि लोगों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार हो रहा है, कि नहीं और उच्च आर्थिक वृद्धि दर से अर्थव्यवस्था का अधिक बड़ा वर्ग जो गरीब तथा जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से भी वंचित हैं, वे लाभान्वित हो रहे हैं या नहीं। इस प्रकार आर्थिक विकास की मुख्य धारा में सबको जोड़ना या सम्मिलित करना, जिससे आर्थिक विकास से सभी लोग समान रूप से लाभान्वित हो सकें तथा कोई भी वर्षा की ओट में न रह जाय, समावेशी विकास कहते हैं। उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि हमें आर्थिक विकास की दूसरी रणनीति अर्थात् समावेशी विकास को अपनाना चाहिए, जिससे समाज का बड़ा वर्ग मुख्य रूप से गरीब व नीचे तबके के लोगों का जीवन स्तर सुधरे और विकास की मुख्य धारा से जुड़ सकें। समावेशी विकास में समाज के बड़े वर्गों को प्रत्यक्ष रूप से रोजगार के अवसर दिये जाते हैं, जिससे उनकी गरीबी दूर हो, आय की असमानता कम हो और उनके जीवन स्तर में सुधार हो।

अब यदि हम पं0 दीनदयाल जी के ''एकात्म मानववाद व आर्थिक दर्शन'' को देखें, मुख्य रूप से ग्रामीण विकास, स्वदेशीकरण, व्यक्ति, राज्य, परिवार के उद्देश्यों में समन्वय तथा अर्थव्यवस्था का विकेन्द्रीकरण, तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि हम उनके आर्थिक विचार को अपनाकर अपना आर्थिक विकास तीव्र कर सकते हैं और अर्थव्यवस्था की वर्तमान आर्थिक समस्या– गरीबी, बेरोजगारी, असमानता, प्रवास आदि को दूर भी किया जा सकता है।

दीनदयाल जी का मानना था कि देश आत्मनिर्भर बने, अपने देश के संसाधनों का कुशल उपयोग हो और आर्थिक विकास बढ़े, विदेशी ऋण पर हम कम निर्भर रहें। यदि ऋण ले भी तो उसका उपयोग उत्पादन क्षेत्र में लगाएं, परन्तु आज स्थिति विपरीत है। आज हम विदेशी ऋणों पर पूर्णतः निर्भर होते जा रहे हैं, जिससे हमारा भुगतान शेष दिन पर दिन घाटे में होता जा रहा है। हमारी मुद्रा का मूल्य गिरता जा रहा है। देश में महंगाई बढ़ती जा रही है। अतः वर्तमान में हमें दीनदयाल जी के आर्थिक विचार को अपनाने की जरूरत है तभी हम अपनी आर्थिक समस्या दूर करके आर्थिक विकास कर सकते हैं। यदि हम ग्रामों का पूर्ण विकास करें तब गांव के लोगों को गांव में ही रोजगार मिल जाएगा, उन्हें शहर की ओर नहीं जाना पड़ेगा। इससे गांवों के लोगों को स्नेह, समानता व सुख प्राप्त होगा। दीनदयाल जी के एकात्म माननवाद के अनुसार व्यक्ति, परिवार, समाज व राज्य के उद्देश्यों में समन्वय हो, कोई भी विवाद न हो, तब हमारा आर्थिक विकास होगा और हमें सुख की अनुभूति होगी।

यदि हम दीनदयाल जी के आर्थिक विचार ''उद्योगों का विकेन्द्रीकरण'' को देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि उनका आर्थिक विचार कुछ और नहीं बल्कि समावेशी विकास ही है, जिसे उन्होंने 1960–70 के दशक में ही दे दिया था। अपने इस आर्थिक विचार में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि ''उद्योगों का विकेन्द्रीकरण'' करके अर्थात् लघु उद्योग–धन्धे स्थापित करके, छोटे स्तर पर व्यापार करके, कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देकर तथा कृषि को उन्नत बनाकर हम लोगों को रोजगार दे सकते हैं, जिससे गरीबी, आय की असमानता कम होगी और लोगों के जीवन स्तर में सुधार होगा। तभी सही मायने में आर्थिक विकास होगा और लोगों को शाश्वत सुख प्राप्त होगा।

वर्तमान सन्दर्भ में देखें तो हमारे देश के योजना आयोजकों ने भी इस बात को अनुभव किया है कि ''समावेशी विकास'' या यूं कहें कि पं0 दीनदयाल जी के आर्थिक दर्शन को अपनाए बिना हम आर्थिक विकास नहीं कर सकते और वर्तमान आर्थिक समस्या को हल भी नहीं कर सकते।

निष्कर्ष

अन्ततः निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी पूरे जीवन भर देश सेवा में लगे रहे। वे एक श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ, कुशल संगठनकर्ता व आर्थिक विचारक थे। उन्होंने राजनीतिज्ञ तथा अर्थशास्त्री दोनों ही रूपों में देश की सेवा की। उनके राजनीतिक सेवा भाव को देखते हुए ही ''श्री श्यामा प्रसाद मुखर्जी'' जी ने ठीक ही कहा था कि ''अगर भारत के पास दो दीनदयाल होते तो भारत का राजनैतिक परिदृश्य ही अलग होता।''

दीनदयाल जी ने देश की आर्थिक समस्या को बड़े निकट से देखा और उसको अनुभव भी किया। अतः देश की आर्थिक समस्या को दूर करने हेतु उन्होंने पूंजीवाद या साम्यवाद का रास्ता स्वीकार न करके अपने देश की आर्थिक व सांस्कृतिक विशेषता के आधार पर अपने महत्वपूर्ण आर्थिक विचार दिए।

पं0 दीनदयाल जी का आर्थिक विचार महात्मा गांधी जी के आर्थिक विचार के समकक्ष है। दोनों लोग ही ग्रामीण विकास, स्वदेशी, उद्योगों के विकेन्द्रीकरण पर फोकस करते हैं। वर्तमान समय में इनके विचार बहुत ही प्रासंगिक है। अतः दीनदयाल जी के आर्थिक दर्शन व एकात्म मानववाद को और अधिक जानने तथा समझने की जरूरत है, जिससे हम उन्हें अर्थव्यवस्था पर लागू कर सकें और वर्तमान आर्थिक समस्या जैसे गरीबी, बेरोजगारी, ग्रामीण प्रवास व असमानता को दूर कर सकें, जिससे हमारा देश आर्थिक रूप से और मजबूत हो सके। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के प्रति यही हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी !

******

एकात्म मानववाद के आधार पर आर्थिक विकास

गुंजेश गौतम*

जनसंघ के पूर्व अध्यक्ष पं॰ दीनदयाल उपाध्याय जी का स्थान भारतीय चिंतन परंपरा में काफी महत्वपूर्ण है। भारतीय चिंतन परंपरा में उनकी महत्ता इसलिए है कि उन्होंने पश्चिम के खंडित दर्शन के स्थान पर भारतीय जीवन पद्धति में समाहित एकात्म मानववाद के दर्शन को आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत किया है।

अभी तक प्रचलित सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शनों – पूँजीवाद, समाजवाद एवं साम्यवाद को देखें तो हम पाते हैं, कि उनमें से सभी ने जीवन के एकांगी पक्ष को लेकर ही अपने जीवन–दर्शन की स्थापना की। जहाँ पूँजीवाद केवल पूँजीपतियों के हितों का ही ध्यान रखता है वहीं समाजवाद एवं साम्यवाद में केवल श्रमिकों के हितों को ही समाज का हित समझा जाता है। गाँधी जी के 'सर्वोदय' की कल्पना जीवन के समग्र भाग का ध्यान तो अवश्य रखती है पर वह इतनी आदर्शवादी और विज्ञानवादी है कि उसे पृथ्वी पर उतारकर जीवन में चरितार्थ करना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव भी है। पं॰ दीनदयाल उपाध्याय जी न एक ऐसा समग्र जीवन–दर्शन देने की चेष्टा की थी जो हमारी भौतिक, मानसिक, बौद्धिक एवं अध्यात्मिक सभी आवश्यकताओं की तृप्ति कर सके।

एकात्म मानववाद का अर्थ

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी भारतीय परम्परा के अनुसार राष्ट्र को एक स्वयंभू, सावयव और जीवमान सत्ता मानते थे। सावयव और जीवमान इकाई की विशेषता यह होती है कि इसमें और इसके अंगों में एक प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध (Internal Relation) होता है। यहाँ 'पूर्ण' 'अंश' के ऊपर, 'अंश' 'पूर्ण' के उपर तथा प्रत्येक 'अंश' प्रत्येक दूसरे 'अंश' के उपर आश्रित होता है। जिस प्रकार व्यक्तियों का एक स्वाभाविक धर्म (गुण) होता है, उसी प्रकार राष्ट्र का भी एक धर्म (चिति) होता है, उसके अनुसार चलने से ही राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति होती है। धर्म का अर्थ बहुमत के शासन से नहीं है, वरन् 'सामान्य इच्छा' (Common Will) के शासन से है। राष्ट्र की आत्मा द्वारा शासन ही वास्तविक प्रजातन्त्र है। यही एकात्म मानववाद है।

एकात्म मानववाद का अर्थ है 'एक ऐसा समग्र जीवन दर्शन, जिसमें शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा, व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी की युगपद सिद्धि सम्भव हो सके। पश्चिम के जितने समाज दर्शन हैं चाहे वह पूँजीवाद हो या समाजवाद, सभी अर्थ और काम को ही जीवन का पुरूषार्थ मानते हैं, पर उपाध्याय जी का एकात्म मानववाद जीवन के किसी भी पुरूषार्थ की अवज्ञा नहीं करता। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरूषार्थों द्वारा संचालित जीवन ही उत्तम जीवन है। एकात्म मानववाद का एक और अर्थ है कि व्यक्ति अपना चाहे, जितना उत्कर्ष कर ले, पर जब तक उस समाज का उत्कर्ष नहीं होगा जिसका कि वह अंग है, तब तक उसका वास्तविक उत्कर्ष नहीं होता। समाज व्यक्ति का ही बाह्य रूप है। अतः समाज की उन्नति में व्यक्ति की उन्नति और व्यक्ति की उन्नति में समाज की उन्नति निहित है।

पं॰ दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिन्तन

दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक विचार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उपाध्याय जी अर्थनीति में भी 'स्वदेशी' भावना अर्थात 'अर्थनीति के भारतीयकरण को महत्व देते थे। उनका मानना था क पश्चिम का आर्थिक

* काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, **ई–मेल–** gunjeshgautam@gmal.com

दृष्टिकोण सर्वथा एकांगी हैं। पूँजीवाद केवल उत्पादन पर ही अधिक बल देता है। इस वृद्धिगत उत्पादन के कारण ही नवीन यन्त्रों का आविष्कार किया गया और इन यन्त्रों के स्वामी ही उत्पादन के स्वामी भी बन गये। लाभ में जब श्रमिकों को यथेष्ट भाग नहीं मिला, तब उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, जिसके परिणाम स्वरूप एक नई प्रणाली समाजवाद या साम्यवाद उत्पन्न हुई। समाजवाद भी एकांगी है, क्योंकि यह केवल वितरण की ही प्रणाली हो सकती है, उत्पादन की नहीं। पूँजीवाद और समाजवाद दोनो ही आर्थिक प्रणालियाँ उपभोगप्रधान है, क्योंकि दोनों ही अर्थ और काम – उपभोग को ही मानव–जीवन का लक्ष्य मानती है। साधारणतया इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन किया जाता है, पर अब उत्पादन के अनुसार इच्छाओं की कृत्रिम उत्पत्ति की जा रही है, जिससे कि उत्पादित वस्तुओं को बेचा जा सके। उपाध्याय जी के अनुसार यह अप्राकृतिक एवं अमर्यादित आर्थिक व्यवस्था है। प्रकृति की भी एक मर्यादा होती है। उसका अतिक्रमण करने से प्रकृति अपना कार्य बन्द कर देती है। अमेरिका तथा विश्व के अनेक देशों में लाखों एकड़ भूमि इस प्रकार बेकार कर दी गयी है। अंतः आर्थिक नीति का आधार शोषण नहीं, दोहन होना चाहिए।

दीनदयाल जी संयमित उपभोग के समर्थक थे। वे कहते थे कि अधिकाधिक उपभोग का सिद्धान्त ही मनुष्यों के दुःखों का कारण है। उपभोग की इच्छा को कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता। वर्ग–संघर्ष जिसके उपर समूचा साम्यवाद खड़ा है, ऐसे उपभोग के कारण ही उत्पन्न होता है।

जहाँ पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों में मनुष्य की कल्पना 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) की है, जो अर्थ और काम को ही जीवन का एकमात्र पुरूषार्थ मानती है। वहीं उपाध्याय जी अपनी अर्थनीति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरूषार्थों को महत्त्व देते थे। वे 'सम्पूर्ण मानव' (Whole Man) को इकाई मानकर चलते थे।

उनके अनुसार जब–तक एक–एक व्यक्ति की विशिष्टता–विविधता को ध्यान में रखकर हम उसके विकास की चिंता नहीं करेंगे, तब तक मानवता की सच्ची सेवा नहीं हो सकती। समाजवाद और पूँजीवाद दोनों ने मनुष्य को व्यवस्था के निर्जीव यन्त्र का एक पुर्जा मात्र बना डाला। 'एक स्वतंत्र जुलाहे को समाप्त कर उसे विशाल कारखाने का मजदूर बना दिया गया। दर्जी के स्थान पर रेडिमेड कपड़ा लाकर रख दिया गया। मनुष्य अर्थात् एक जानवर जो 12 घण्टे मजदूरी करे और 12 घण्टे खाये। इस प्रकार कार्य और जीवन के बीच एक दीवार खड़ी कर दी गयी। यही मनुष्य का अमानवीयकरण है। उपाध्याय जी इस व्यवस्था के खिलाफ थे। वे आर्थिक लोकतंत्र तथा विकेन्द्रित अर्थ–व्यवस्था के पक्षधर थे। उनके अनुसार ''आर्थिक लोकतंत्र का आशय है हर वयस्क को कार्यावसर। किसी भी अर्थव्यवस्था के अच्छे होने का मापदण्ड है कि वह आने वाली पीढ़ियों को कार्यावसर देती है या नहीं।

यदि हम भारतीय समाज व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखें तो हम पाते हैं कि भारत वर्ष की समाज व्यवस्था किसी भी संतान को बियाबान मे पैदा नहीं करती। किसी भी संतान को असुरक्षा या अनिश्चितता देकर पैदा नहीं करती कि पता नहीं बड़ा होकर क्या करेगा ? इसलिए भारत की भाषा मे, चाहे भारत की प्रादेशिक भाषायें हों या हिन्दी भाषा हो उसमें बेरोजगारी या Unemployment के समानार्थक कोई शब्द नहीं है, क्योंकि समाज व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें कोई बेरोजगार हो नहीं सकता। दीनदयाल जी ने कहा, यह व्यवस्था क्या है इसको समझो।

हम इसमे कभी–कभी जातिवाद समझते हैं तो कभी व्यक्ति को किसी ऊँचे या नीचे काम से बाँध देने के नजरिये से समझते हैं, यह विकृति है। दीनदयाल जी ने इस समाज व्यवस्था को विकेन्द्रीकरण के रूप में पढ़ा। उन्होंने कहा कि उत्पादन के साधनों का जितना विकेन्द्रीकरण होगा, धन्धों का जितना विकेन्द्रीकरण होगा, उतने ही कार्यावसर बढ़ेंगे। इसके विपरीत उत्पादन के साधनो का जितना केन्द्रीकरण होगा, उतने ही

कार्यावसर घटेंगे। उन्होंने कहा इस भारतीय समाज व्यवस्था में जो हमें समझना है वह है, We want to decentralized economy हमको विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था चाहिये।

दीनदयाल जी अत्यधिक यान्त्रिकीकरण के विरोधी थे। वे कहते थे कि ''यन्त्र मानव का सहायक है, प्रतिस्पर्धी नहीं, किन्तु जहाँ मानव–श्रम को एक विनिमय की वस्तु समझकर उसका मूल्यांकन रूपयों में होने लगा, वहाँ मशीन मानव की प्रतिस्पर्धी बन गयी। यह पूँजीवादी दृष्टिकोण का दोष है। यदि मशीन मानव का स्थान लेकर उसे भूखा मारे तो वह उन उद्देश्यों के विपरीत होगा जिनकी सिद्धि के लिए यन्त्र का आविष्कार हुआ। जड़ मशीन का यह दोष नहीं, यह दोष जीवित मानव का है। यह बुराई उस अर्थ–व्यवस्था की है जिसमें साध्य–साधन विवेक लुप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मशीन मानव की सहायिका है, उसका स्थानापन्न नहीं है। मशीन और मनुष्य के कार्यों में सहयोग और सामंजस्य होना चाहिए, विरोध नहीं।

दीनदयाल जी देश की मानवीय शक्ति और बेकारी देखकर लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास के पक्षपाती थे। उनके अनुसार ''राजनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को जिस प्रकार तानाशाही नष्ट करती है, उसी प्रकार अर्थनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को भारी पैमाने पर किया गया उद्योगीकरण नष्ट करता है। ऐसे उद्योगों में व्यक्ति स्वयं भी मशीन का एक पुर्जा बनकर रह जाता है। इसलिए तानाशाही की भाँति ऐसा उद्योगीकरण भी वर्जनीय है। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की यह रचना शक्ति तभी प्रकट हो सकती है, जब विकेन्द्रीकरण के आधार पर उद्योगों की व्यवस्था हो। 'विकेन्द्रीकरण का तात्पर्य मशीनों का आत्यन्तिक परित्याग नहीं है, वरन् उन मशीनों का प्रयोग है जो मनुष्य को बेकार न कर दे। लघु–उद्योगों के विकास से बेकारी की समस्या का समाधान होगा, गाँव अधिकाधिक स्वावलम्बी होंगे तथा व्यक्ति की प्रेरणा मिलने के कारण वस्तु के गुण तथा उत्पादन दोनों में वृद्धि होगी।

दीनदयाल जी भारी उद्योगों के विरोधी नहीं थे, पर वे उन्ही भारी उद्योगों को चाहते थे, जो लघु उद्योगों के चलाने के लिए आवश्यक हों या सुरक्षा सम्बन्धी हों। उनके अनुसार पूँजी और श्रम में कोई आत्यन्तिक भेद नहीं है। श्रम भी एक प्रकार की पूँजी है और पूँजीपति भी एक प्रकार का श्रमिक हैं, क्योंकि वह व्यवस्था करने में श्रम करता है। अतः दोनों में सहयोग हो सकता है। उद्योगों में पूँजीपतियों और श्रमिकों दोनों के सहकारीकरण से पूँजीवाद और समाजवाद दोनों की अच्छाइयों को सुरक्षित एवं उनकी बुराइयों को दूर किया जा सकता है। देश की सम्पत्ति का स्वामित्व जनता के हाथ में, न कि सरकार के हाथ में होना चाहिए। सरकार का कार्य उद्योगों का मार्गदर्शन करना व आर्थिक सहायता देना है, नियंत्रण करना नहीं।

इस प्रकार हमें, ''धर्म–राज्य, लोकतन्त्र, सामाजिक समानता और आर्थिक विकेन्द्रीकरण को अपना लक्ष्य बनाना होगा। इन सबका सम्मिलित निष्कर्ष ही हमें एक ऐसा जीवन–दर्शन उपलब्ध करा सकेगा, जो आज के समस्त झंझावातों में हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। चाहे इसे हम किसी भी नाम से पुकारें – हिन्दुत्ववाद, मानवतावाद अथवा अन्य कोई भी नया वाद, किन्तु यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह संचारित कर सकेगा।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि पं॰ दीनदयाल उपाध्याय जी का समाज–दर्शन पश्चिम के सभी समाज–दर्शनों से श्रेष्ठतर है। यह एक पूर्ण समाज दर्शन है। आज एकात्म मानव दर्शन के भारतीय रास्ते की ओर सारी दुनिया निहार रही है। इस रास्ते पर चलते चले जाना ही दीनदयाल जी को सच्ची श्रद्धांजलि है।

******

"Economic Development with special Reference to Integral Humanism"

Shalley Bakshi*

India is at 10th rank as far as GDP, a measure of economic development, is concerned. However, if we look at the real scenario, we have lot of people who feel lucky if they get a two meals during a day. At the same time, we have a lot of people who are among the Forbes List of the richest individuals among the world. The focus of our country has been on economic development with out taking into consideration our traditions and cultural ethos. Economic development is to improve the economic well being of a specific geography. The term economic development arouses among masses, a sense of hope of good life, with fulfillment of all the basic needs with honour and dignity in a free atmosphere .After independence the economic model which India adopted, failed to yield the desired result .Thus we can clearly see that mere focus on the economic development is not helping India as a country in ensuring development and prosperity to one and all.

The national reconstruction can be directly linked to economic development of nation. The philosophy behind the reconstruction is very well known as Integral Humanism propounded by Pandit Deendayal Upadhyay.

India has followed a centralized system of economic development under the influence of the west. Industrialization emphasized heavy and capital goods industries. It resulted in to some benefit and many problems like poverty, economic disparity, social injustice, and unemployment have arisen. The western concepts like individualism, socialism, capitalism etc cannot give any kind of justice. The Indian policy has been raised upon these superficial foundations.

Integral Humanism is a new philosophy of life, which looks to life and universe in all their comprehensiveness and inter-relatedness and also see unity in diversity. This is simultaneous and integrated program of the body, mind, intellect and soul of each human being. It visualizes economic development of each human being in a decentralized policy and self reliant economy worth the village as the base. It stands for the development of village as an agro industrial community, which would bring immediate benefit to the masses in employment as well as producing wealth ensuring its wide distribution.

In order to get rid of the centralized system and further improve the economy of the country the creation of a self-employed sector is need of the hour .This will result in the commitment and inter-cooperation among men. Integral humanism believes in the economic and spiritual development of every person. Economic development is not possible without spiritual development and vice versa.

This philosophy guides not to have any conflict between the individual and society. To achieve the goal every one must ensure proper production, distribution and consumption of wealth. Regulation of economy is necessary. A system which advances in one direction but lacks progress in other direction cannot be considered beneficial .All round development should not be ignored.

* Assistant Professor, Swami Parmanand Engineering College, Lalru, Punjab (Punjab Technical University).

In broader sense, economic development not only includes the quantitative changes in the economy but also includes certain qualitative changes like good health care facility, environment conservation, and increase in the rate of literacy. Development and welfare of masses is real economic development which should be sustainable.

For achieving sustainable development many strategies are focused at like the use of environment friendly sources of energy, organic farming, recycling of waste, conservation of natural assets, etc; and this should be practised as a daily life activity. It involves less cost and more consciousness. Western mode of economic development does not build a system in which human being finds sufficient opportunity for overall development. Contrary to this Integral Humanism emphasises on all aspects of an individual's life be it social, economic, political, cultural, spiritual and so on.

Development should be all inclusive without any discrimination .Since 80% of people live in villages, emphasis should be laid on the development of cottage and small scale industries and also the development of agriculture and agro based industries. This will stop the migration of rural people to urban areas.

So to sum it all, India should focus on the overall development and not just mere economic development if it has to give a good standard of life to its citizens. This will involve focusing on all the dimensions like social, economic, environment, spiritual, agricultural, etc. With this kind of an integral approach, we can look forward for a prosperous India in true sense.

References:

1. http://en.wikipedia.org/wiki/Integral_humanism_%28India%29
2. http://www.sabhlokcity.com/2011/09/deendayal-upadhyayas-integral-humanism-1-principles-and-policies-of-jan-sangh/
3. Economic Ideas of Pandit Deendayal Upadhyay, by Surendra Prasad Jain
4. http://www.chitrakoot.org/download/IntegralHumanism.pdf

******

Ekatma Manav-Vad

Hoshiyar Singh*

Independen India had to decide what sort of government it should have and how the welfare of the country should be articulated. Several con¬cepts in all their strengths and weaknesses were being actively practised all over the world but by no means to universal satisfaction. The simplest form of running of government was capitalism, uncontrolled and uninhibited. But that did not alleviate public distribution of wealth, let alone poverty.

In direct and sharp contrast was communism, which was first introduced in a weak and tremulous country, Russia, in all its severity. Millions were ruthlessly killed and an alien ideology was enforced on a meek and submissive population. By then another ideology came to surface: socialism, which tried to strike an observable balance between capitalism and communalism to make it acceptable to a wide public. In India, intellectuals were widely divided.

They had seen what happened in Russia with a suppression of freedom and an authoritarian administration that brooked no opposition. Post-1948, China, too, had a communist government equally cruel and terrifying. Watched in India with equal curiosity were forms of government in western Europe and Great Britain.

Here at home Jawaharlal Nehru, a highly anglicised leader, in total defiance of the Gandhian concept of village self-sufficiency was hoping to introduce qualified socialism in the country, whatever that meant. It is interesting to know that as early as 1950 the Tatas had submitted for general consideration the so-called Bombay Plan.

As the Congress Party came to power, it began with the setting up of a Planning Commission with wide powers to suggest economic development. Since then, a dozen Five year Plans have been promulgated and set in motion. The public is aware of how, under the Prime Ministership of P.V. Narasimha Rao the Central Government broke away from the then prevailing sentiments under the Permit licence Raj. Indira Gandhi had her own 20 Point Programme during the Emergency.

The knots were untied by the Rao Administration and Dr Manmohan Singh deserves full credit though under his own rule as Prime Minister he has done poorly. We are still groping our way towards prosperity without a settled plan but with a new Governor for the Reserve Bank expected to find ways and means to get out of our floundering economy.

It is against this background that this book becomes extremely relevant. It does not pontificate; it seeks to indicate various corrective measures in all walks of individual and social life, setting up fresh goals, restructuring cultural values to regain an ancient life force which once had made India an example to follow. It discusses concepts of development, formulation of national goals, the challenges one faces, strategies that can be used to re-introduce an Indian Renaissance.

It starts with a curtain-raiser, discussing, naturally, existing- value systems. It then goes on to line up policies that can be implemented in the light of Ekatma Manav Darshan (Integral

* MDU Rohtak (Haryana), E-mail: hsnirban2011@gmail.com

Humanism) based on what the organisers identify as Bhaatiya Chintan, suited to modern times, taking into consideration the ever expanding frontiers of human knowledge. Some of our intellectuals brought up on western ways of thinking may laugh at the very idea of Ekatma Manav Darshan but that is only to be expected.

Their minds are so conditioned by western concepts that something purely Indian is usually anathema to them. The organisers insist that what they have in mind is furtherance of the Vedantic humanism of Swami Vivekananda and the integral vision of Sri Aurobindo. That it does not depend upon what can only be described as a purely western mode of thinking is its USP?

Actually, Ekatma Manav Vad was first presented by Pandit Deendayal Upadhyaya at a lecture series in Pune and Mumbai way back in 1964. The term Ekatma Manav Vad, in fact, was coined and propagated by him. However, it is only proper and right to acknowledge that the phrase Integral Humanism was used casually in 1921 by Bipin Chandra Pal, one of the trinity of Lal Bal Pal (Lala Lajpat Rai, Bal Gangadhar Tilak and Bipin Chandra Pal).

Indian indigenous thought system.

In the preface to this book we are told that even Pal only expounded that which already existed in the literature and life of Bharat to suit the times.

Pal had linked the integral approach to individual, society, environment and parameshti bringing out how ekatmabhav (love) blossoms on realising the unity of creation which is the foundation for all. Is it then, a modern presentation for what goes for ‘dharma’?

We have, it is necessary to point out, what M.N Roy called Radical Humanism. In what way is Ekatmabhav different from Radical Humanism? One can only hope that some one knowledgeable of Radical Humanism will come forward to set up a sound discussion.

Example of Ekatma Manava Darshan

Bharat is a country with the oldest tradition of culture and dharma. Our dharma says all living and non living things in the world are made of one element that is Atma tatva. This is derived from Param tatva..i.c Parmatma.Thus we consider all human beings and animals and creatures have same soul inside.So we believe and behave in way, so that equality is established by itself. We call it Ekatma Manava Darshan.

Recently I came to hear two facts about our society experiencing ekatmata in all people by honoring to lowest person in society too. Indumatiben Katdhare of Punruthan trust was in my city to give lecture in parent's meet of saraswati shisumandir. She elaborated about practical aspects of Ekatma manav darshan.

In out country at so many places, girl who is going to marry is given Mangalsutra, which is made by gold chain and black moti. Usually these black moti are brought from different places but it is not finished till few motis are not brought from house of Ganika of town (prostitute), This tradition was practiced in past very well and still performed in so many villages and towns.

In west Bengal and in so many parts of Bharat Durgapuja is festival of joy and faith. Murti (Statue) made of mud for Durga is made by mud from each corner of village. In this also mud from house of Ganika is brought for making Murti. Thus even the nature of the goddess becomes sacred only when it has contribution from all people of society. These are examples of practically how people still believe and behave for soul of our countryman is one ,ic Ekatma Manava darshan (Integral Humanism)

This was brought in view to all of us by Pnadit Dindayal Upadhyay, one of founder worker of Bharatiy Jansangh

About Deendayal Upadhyaya

Pandit Deendayal Upadhyaya (1916 – 1968) was an eminent political personality and a profound philosopher. He became a pracharak of the RSS after completing his M.A.

He established the publishing house 'Rashtra Dharma Prakashan' in Lucknow and launched the monthly magazine 'Rashtra Dharma' to propound the principles he held sacred. Later he launched the weekly 'Panchjanya' and still later the daily 'Swadesh'.

In 1950, Dr. Syama Prasad Mookerjee, then Minister at the Center, opposed the Nehru-Liaquat pact and resigned his Cabinet post and joined the opposition to build a common front of democratic forces. Dr.Mookerjee sought Shri. Guruji's help in organizing dedicated young men to pursue the work at the political level. Pandit Deendayal has been the source of ideological guidance and moral inspiration many social activists and political leaders.

The pioneer of Integral Humanism or 'Ekatma Manava Darshan', 'Integral Humanism', is a critique of both communism and capitalism, advocating a holistic alternative perspective for political action and statecraft consistent with the laws of creation and the universal needs of the human race. Deendayalji was a great advocate of indigenous economics & administration models.

He was never enamoured of any position. He was not a Member of Parliament, but he was the maker of Members of Parliament.

His Murder: Pt. Deendayal Upadhyay was murdered on 11th Feb 1968 at Mughalsarai in UP. His death was as shocking as it was mysterious. The mystery remains unsolved to this day. Everyone was stunned by his untimely demise.

Atal Behari Vajyapee said "Come, let us consider every drop of Panditji's blood as the holy mark on our foreheads and move towards the ideals he lived and worked for. We should take every spark from his funeral pyre to our hearts and work to our utmost ability like him. We should turn the bones of this Dadhichi into stones and hurl them on the enemies so that our sacred soil is free of all roadblocks.

The attack on his life is an attack on our nationalism. The wounds on his body are assaults on our democracy. We accept this challenge of anti-nationals and enemies of democracy".

Panditji sacrificed his life for the ideal for which he had struggled all his life. But his dream is still unfulfilled; his work is still incomplete.

Philosophy and Social Thought

The philosophy of Integral Humanism advocates the simultaneous and integrated program of the body, mind and intellect and soul of each human being. His philosophy of Integral Humanism, which is a synthesis of the material and the spiritual, the individual and the collective, bears eloquent testimony to this. In the field of politics and economics, he was pragmatic and down to earth. He visualized for India a decentralized polity and self-reliant economy with the village as the base.

Deendayal Upadhyay was convinced that India as an independent nation cannot rely upon Western concepts like individualism, democracy, socialism, communism, capitalism etc. and he was of the view that the Indian polity after independence had been raised upon these superficial Western foundations and not rooted in the timeless traditions of India's ancient culture. He felt that the Indian intellect was getting suffocated by Western theories and ideologies and consequently there was a big roadblock on the growth and expansion of original Bharatiya thought. He said that there was an urgent public need for a fresh breeze.

He welcomed modern technology but wanted it to be adapted to suit Indian requirements. Deendayal believed in a constructive approach. He exhorted his followers to co-operate with the government when it was right and fearlessly oppose when it erred. He placed nation's interest above everything else. He died in unexpected circumstances and was found dead on 11 February 1968 at Mughal Sarai Railway yard. The following rousing call that he gave to the thousands of delegates in the Calicut session, still reverberants in their ears:

“We are pledged to the service not of any particular community or section but of the entire nation. Every countryman is blood of our blood and flesh of our flesh. We shall not rest till we are able to give to every one of them a sense of pride that they are children of Bharatmata. We shall make Mother India Sujala, Suphala (overflowing with water and laden with fruits) in the real sense of these words. As Dashapraharana Dharini Durga (Goddess Durga with her 10 weapons) she would be able to vanquish evil; as Lakshmi she would be able to disburse prosperity all over and as Saraswati she would dispel the gloom of ignorance and spread the radiance of knowledge all around her. With faith in ultimate victory, let us dedicate ourselves to this task. ”

Pandit Upadhyaya edited Panchjanya (Weekly) and Swadesh (Daily) from Lucknow. In Hindi, he has written a drama Chandragupta Maurya, and later wrote a biography of Shankaracharya. He translated a Marathi biography of Dr. K.B. Hedgewar, the founder of RSS.

Need for Integral Humanism

The need for integral humanism was felt in Independent India primarily because ideological differences were kept aside in order to achieve the collective goal of independence and self-rule. The need for establishing coherent socio-economic ideologies was felt as there was an environment of ideological haze in the country, both in the Congress and their opponents. Nehru had his own inclination towards socialism, bordering on blind faith. There was a growing intellectual opposition and resentment to Nehruvian thought, both in the left as well as the right.

In this environment, Deen Dayal felt that the rise in opportunism in the ruling party as well as opposition was detrimental to national interest. Many in the Opposition were of the view that one could adopt anything from extreme Marxism to capitalism just to defeat the Congress. Add to that, the presence of people from all extremes, from right to left in the Congress Party who also created a sense of dissatisfaction and vagueness in the polity.

Western concepts of individuals, and society were widely accepted because of the reduction of intellectual activity in India during the middle ages. Integral Humanism is supportive of Western advances in science and technology, but does not believe in the compatibility of western socio-economic constructs in the vast country like India. Nor is it the opportunist centrism to project these days to further "secularize" and "democratize" one's image. Integral Humanism does not even believe in the western evolution of nationalism, which it finds opposed to world peace. Integral humanism doubts the validity of constructs like secularism as it was merely a response to clergy and socialism, a response to exploitation. Socialism stands as opposed to individual liberties, the degeneration of capitalism based on perfect competition to a monopolistic structure and crony capitalism is also evident.

Reason has been replaced by opportunism. Integral humanism, he believed should understand the need for change according to time. That is the reason why Deen Dayalji rejected the proposition that India should start afresh from ideologies that existed at the time when it was not subjected to foreign rule. Ideology, he believed had to exist in continuum. He believed that the scientific approach to Western economic constructs would be to accept wisdom of the West, but also to learn from the incongruities.

Integral humanism was a knowledge based system which he believed would continuously evolve and adapt to various incidences in the world. He cited disastrous effects of a mix of nationalism and socialism in Hitler, which buried democracy and took away individual freedom. Marxism, he believed promised bread, but in the end people neither had bread, nor voting rights. He believed that people with no background of the national character hurriedly try to fit India into existing boxes of Western ideological constructs.

When Panditji talked about honesty being a principle rather than a policy, little did he imagine that many who would be working under the banner of integral humanism in the future would make a mockery of his proposition! Unlimited centralization of power, he believed, in the hands of the State (or the High Command in the context of political parties) results in decline in Dharma, as it forces people into excessive reliance on the state, and ensures revolt.

Integral Humanism was not entirely spiritual, as it proposed that physical needs and desires should not be suppressed. In many ways, it was the first clearly defined Indian model for ideological non-alignment or meaningful centrism. Society was looked upon as an abstract concept with a collective physical presence, a mind of its own, an intellect and a soul. For example, individuals can tolerate a lot of insinuations against themselves, but when a word is spoken against their group/society/religion, the entire group changes character. A few good men, Deen Dayalji believed, together do not necessarily make a good group.

Nations as well as political parties do not exist by mere cohabitation. He talked of Chiti or the soul of the nation, and the fact that institutions should be created keeping in mind this soul. He believed that conflict was not the path to development, but overcoming them and focusing on integrated development was. It was only through cooperation that broad national goals could be reached. The present mess in the BJP is a result of opportunism, and an inability to grasp either Chiti or Dharma.

Panditji believed that the State was not supreme, nor was it the society itself, nor the sole representative of the nation. He did not deny the importance of State, which he said was a vital institution.Yet he did not regard it as the supreme institution. He believed that delegation of power merely to states was not decentralization in the truest sense. He believed in delegation of power to the janapadas and panchayats, much like what Mahatma Gandhi believed in and preached about.

The soul of the nation or Chiti, Deen Dayalji believed was difficult to comprehend, and so the individual should focus on Dharma, which he said was not religion, but a sense of duty. He believed that Dharma could not be imposed on its citizens, but had to come from within. Thus, integral humanism is opposed to a theocratic definition of State.

The Origin of Humanism

Humanism as a philosophical and literary movement originated in Italy in the Second half of the 14th Century and diffused all over Europe. As an atheistic theory it was conceived in the 17th century by French philosopher but as a theistic-pragmatic theory it was conceived indirectly around 2000 B.C. at the time of Vedas and Upanisads in India. The Prayer "Sarvetra Sukhinah Santu Sarve Santu Niramayah;" `Let all be happy here and let all enjoy full health’ of Vedic Sages echoed this Universal welfare. The earthly life constitutes the central concern for the Vedic Aryans. The sacrificial fire-rites which were evolved during Vedic period had social welfare as its motto, the motive was to prepare the land for agriculture for abundance and welfare of human race.

The latter half of the nineteenth century witnessed Hindu Renaissance pioneered by Brahm Samaj of Raja Ram Mohan Roy and Arya Samaj of Dayanand Saraswati, finally blossoming into Vedantic Hinduism of Vivekananda. Vedantic Hinduism, stresess the importance of service to the weak and the needy as its practical aspect.

Various Interpretations of Humanism

Humanism is not an established school of philosophy, but is a definite philosophical outlook. It emphasized the worth and dignity of man by rejecting other worldliness and transcendentalism. It is this worldly, man-centred secular philosophical outlook. It claims that the man is self-sufficient and is able to comprehend the world phenomena and works out a certain social order without the help of God. It is an attitude towards and an approach to man's worldly life and values. It is characterised by interest in man, concern for man and faith in man's reason and conscience for discriminating perception of truth and goodness. The modern genetic engineering sees man as a product of evolutionary process, and an agent controlling and directing this process. Humanism as the philosophical attitude regards the interpretation of human experience as the primary concern of all philosophizing and asserts the adequacy of human knowledge for this

purpose. By giving to all science and literature a reference to human life and its purpose, philosophy connects itself with literary humanism. Science, viewed in its relation to man, can be utilised for human purpose. But emphasis on utilitarian aspect of science undermines its value as independent branch of human knowledge.

******

एकात्म मानवदर्शन – वैश्विक जीवन दृष्टि

डॉ0 लीना गहाणे*

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

भारत का यदि कोई इतिहास है, तो वह समस्त विश्व की मंगलकामना का ही है। यह मौलिक हिंदू तत्वचिंतन ही हमारे आचरण का आधार है। अपने जीवन में प्राप्त एकात्मता कि अनुभूति हमने संपूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त पायी। उसी अनुभूति के आधार पर हमारा संपूर्ण चिंतन एवम् ज्ञान विकसित हुआ और फिर हमारे आचरण में वह अभिव्यक्त हुआ, जिसे हमने 'धर्म' कहा। संपूर्ण जगत के जड़ चेतन के प्रति संवेदनशीलता एवम् एकात्मता का व्यवहार धर्माचरण है। इसमें किसी से स्पर्धा का भाव नही तथा प्रत्येक के प्रति आत्मीयता एवम् सहकार्य की भावना निहित है।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।।

प्रत्येक व्यक्ति में स्थित उच्चतम गुणों के विकास तथा संवर्धन के लिए अच्छे वतावरण का निर्माण और उसकी स्वीकृति यह हमारी दृष्टि रही है। 'मैं' के केंद्रबिंदु से प्रारम्भ होकर अखंड मंडलाकार व्याप्त ऐसी कर्तव्य की भावना ही हमारा धर्म है (अखण्ड मंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्)। संपूर्ण विश्व को इन सभी विचारों से संस्कारित करने की क्षमता केवल हिंदू तत्वचिंतन में है। इतने वर्षों से चले आये जीवन मूल्य शाश्वत कहलाये, क्योंकि उन मूल्यों का अधिष्ठान 'सत्य' पर टिका है और वह कालातीत है। सत्य उस ज्ञान की अनुभूति है, जो हमें संकीर्णता से विस्तार की ओर, तमस् से तेज की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाती है। इसके परिणाम स्वरूप जो चिंतन होता है, उसमें कोई भी वस्तु केवल मेरे लिए नही सबके लिए, सबकी भलाई के लिए, चिरंतन आनंद की प्राप्ति के लिए। ''आत्मनो मोक्षार्थं जगद् हिताय च।''

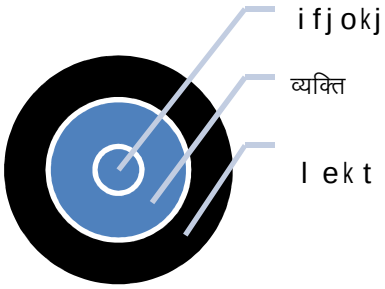

पश्चिम का चिंतन

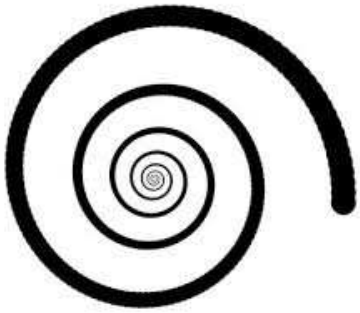

भारत का चिंतन : अखण्ड मंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।

परंतु आज के स्पर्धात्मक विज्ञान एवम् तकनीकी ज्ञान के युग में हम तेजी से केवल और केवल मानव सुख के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील है और उसी ओर भाग रहे हैं। इस प्रतिस्पर्द्धा में ऊपर दिये विचार का कोई महत्व ही नही है। क्यों कि आज के विकास की परिभाषा में व्यक्ति का भौतिक सुख ही केंद्र बन गया है। आज सृष्टि का संवर्धन और उसके आधार पर विश्व कल्याण की यह सोच पिछड़ गयी है। इसलिए मनुष्य,

* प्रपाठक, भौतिकशास्त्र विभाग अंजुमन अभियांत्रिकी महाविद्यालय, सदर, नागपुर,
email :- leenagahane@rediffmail.com

उसका विकास, उसका आनंद, उसका सुख, उसके लिए भौतिक सुविधा इसी के परितः हमारे भी विकास का मॉडल चक्रण करता नजर आ रहा है। यह व्यक्ति केन्द्रित विकास यानि विश्व पर संकट के बादल जैसा है। उदाहरण के तौर पर यदि माँ के गर्भ में बालक हो और हम यह चाहते हों कि, बालक का माँ के पेट के अंदर पूरा विकास हो, तो उसके लिए केवल बालक को बाहर से पोषक आहार या स्वास्थ्यवर्धक टॉनिक पिलाना असंभव है और उससे बच्चे के विकास की कल्पना मूर्खता है। लेकिन वास्तव में अगर हम बालक का स्वस्थ विकास चाहते हैं तो हमे माँ के स्वास्थ्य तथा उसकी मानसिक स्थिति एवं उसके चारो तरफ के वातावरण का ध्यान रखना होगा। तभी गर्भ में पल रहे बच्चे का विकास संभव है। जिस तरह बाहरी पोषण से केवल बच्चे के विकास की कल्पना, माँ के जीवन को संकट में लायेगी, वैसे ही यह केवल व्यक्ति केंद्रित विकास का मॉडल सृष्टि रूपी माँ पर संकट लाने वाला है। जैसे बच्चे के पोषण के लिए माँ का पोषण अनिवार्य है, वैसे ही 'व्यक्ति विकास' में 'सृष्टि संवर्धन' आवश्यक है। इसलिए भारतीय संस्कृति में सृष्टि/पृथ्वी को माता का स्थान दिया गया हैः

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

हमारे विकास की धारणा का केंद्र केवल 'व्यक्ति' न होकर 'सृष्टि संवर्धन' के अनुकूल व्यक्ति विकास होना चाहिए। यही शाश्वत सत्य है और यही जीवन का नियम भी है, यही समग्र विकास की धारणा भी है। व्यक्ति के विकास और समाज की पूर्णता का यही समन्वित विचार भारतीय चिन्तन की विश्व को देन है।

परंतु आज हमारी जीवन दृष्टि का केंद्र व्यक्ति का भौतिक सुख होने से उसकी आवश्यकता आदि का ही विचार हो रहा है। उसके लिए ही विद्या ग्रहण करना, उसके लिए ही काम करना और केवल उसके लिए ही जीना ऐसी यह विकृत दिशा हमने अपना ली है। आज पश्चिम की खंडित एवं टुकड़ों टुकड़ों में विचार करने वाली जीवन दृष्टि हम आधुनिकता के नाम पर अपना रहे हैं, उसका परिणाम समाज में असंतोष, बेरोजगारी, आत्मग्लानि, विकृति के रूप में दैनिक जीवन में देखने को मिल रहा है। जीवन के परमोच्च विकास की ओर बढनेवाले हम, न ही आत्मसंतुष्टि को प्राप्त कर पा रहे हैं और न ही अपने सर्वोत्तम को प्रकट करने में सफल होते नजर आ रहे हैं। फिर इस सर्वोत्तम की अभिव्यक्ति के लिए साधन क्या हो, और उसका स्वरूप कैसा होना चाहिए ? यह सोचना अनिवार्य हो जाता है।

हिंदू तत्वचिंतकों ने इसका बड़ा सरल उपाय बताया है और वह है स्वयं की साधना के आधार पर ज्ञान की अनुभूति करना और उस अनुभूति का सार है –

एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।।

वह जो सर्वव्यापी, सर्वत्र चलायमान, ऊर्जावान एक ही तत्व है, वही हम सब जड़–चेतन में भिन्न–भिन्न रूपों एवं रंगों में अभिव्यक्त हो रहा है। जब यह चिंतन पक्का होता है, तो फिर 'वसुधैव कुटुंबकम्' कि भावना जागृत होती है। तब प्रत्येक विचार, सोच, आचरण, व्यवहार यह विश्व में व्याप्त उस परम् तत्त्व के कल्याण के बारे में सोचे बिना नही हो सकता। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' के अनुसार त्यागपूर्ण ढंग से उपभोग करने की बात यही है। उसी को हमने 'धर्म' कहा, जो हमे विस्तार की दिशा में अग्रसर होना सिखाता है। इस धर्माचरण की व्याप्ति हमारे जीवन में चार पुरुषार्थों का पालन करने को कहती है और वे हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ।

इन पुरुषार्थों में व्यक्ति के शरीर, भूमि, जन और उपभोग इन चारों चीजों से बना हुआ 'अर्थ' पुरुषार्थ है। उसी प्रकार योगक्षेम, मन की इच्छायें, राष्ट्र का संकल्प और यज्ञयाग इन चारों से मिलकर 'काम' पुरुषार्थ हुआ। तीसरा पुरुषार्थ है धर्म। बुद्धि, राष्ट्र की परम्पराएँ, यज्ञ –भाव और ज्ञान या शिक्षा इन चारों से 'धर्म' पुरुषार्थ बना। चौथा पुरुषार्थ है मोक्ष। निष्काम कर्म, ज्ञान, राष्ट्र के आदर्श और आत्म बोध से 'मोक्ष' से पुरुषार्थ

बना। ये सारे पुरुषार्थ इसलिए कहलाये, क्योंकि इन्हें जीवन में जीकर मोक्ष की प्राप्ति के लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। अतः 'धर्म का आचरण' यह साधन हुआ और 'मोक्ष प्राप्ति' यह साध्य हुआ।

लेकिन इस जीवनयापन के कार्य में 'अर्थ' की भूमिका अंह है। आचार्य चाणक्य ने कहा 'सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः।' सुख धर्ममूलक है तो धर्म अर्थमूलक। अर्थ के बिना धर्म नहीं टिकता और समाज के विकास एवं वृद्धि के लिए काम पुरुषार्थ की भी आवश्यकता है। इन दोनों के अधिष्ठान में धर्म का निहित होना आवश्यक है। यही हमारी विचारधारा है और इसी आधार पर हमारे यहा जीवन व्यवस्था, कुटुंब व्यवस्था, समाज व्यवस्था, त्यौहार, उत्सव इनकी ऐसी परंपरायें बनी हैं जिन्होंने सृष्टि का 'दोहन' किया 'शोषण' नहीं संवर्धन किया और माँ सृष्टि नें हम सबका पोषण किया और यही हमारे ऊर्जा चक्र, विकास चक्र का नियामक बना।

जब हम परस्परावलंबी होते हुए भी, परस्परानुकूल विकास जीवनयात्रा का विचार करते हैं, तब फिर हम अपने आपको संतुष्टि, समाधान एवं नियम के दायरे में बांध लेते हैं। हमारे यहाँ परस्पर अवलम्बित होने की भावना से भी ऊपर उठकर यह सोचा गया कि हम, आपस में एक दूसरे के अनुकूल हों। अनुकूलता और अवलम्बन के अर्थ में बहुत बड़ा अन्तर है। अवलम्बन में दीनता है, परस्परावलम्बन में भी निर्भरता है, किन्तु अनुकूलता में अपनी शक्ति का समादर है तथा सबके प्रति कर्तव्य और जिम्मेदारी का भाव, यह हमारे जीवन का आयाम बन जाता है। अपने प्रतिदिन के जीवन में सृष्टि का दोहन कर अमृतपान करने में ही हमारा विश्वास है। इसलिए हिंदू परिवार संकल्पना यह केवल पति–पत्नी, बच्चे, बूढ़े यहीं तक सीमित नहीं है। इसमें अन्य पशु, पक्षी, प्राणी, जीव, पेड़–पौधे तथा जड़ वस्तुओं तक का विचार हुआ है और फिर इन सबकी भलाई के लिए यज्ञ, जप, पूजा–अर्चना की व्यवस्था, विचार किया गया है। इस सृष्टि का निर्माण करने वाले पंचमहाभूतों के प्रति श्रद्धा का भाव निर्माण हो, ऐसे रीति–रिवाज अपने यहाँ बने हैं। जब हम एक दूसरे के प्रति अनुकूल होकर कार्य करते हैं, यानी धर्माचरण करते हैं, तो सभी आनन्दित होते हैं और उस आनन्द का एक हिस्सा हमें भी मिलता है। हमारा स्वयं का भी विकास होता है और व्यक्ति और समाज दोनों सुखी होते हैं।

अधिकाधिक विकास, अधिकाधिक शक्ति और अधिकधिक समर्पण यही क्रम है, जो व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ प्रदान करता है। अपने कर्तव्य कर्म के लिए सर्वस्व अर्पित करने की भावना ही मुख्य बात है। दूसरों को सुखी करने की दृष्टि से किया गया कार्य ही 'त्याग' है। यह 'यज्ञ' याने 'त्याग' ही भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

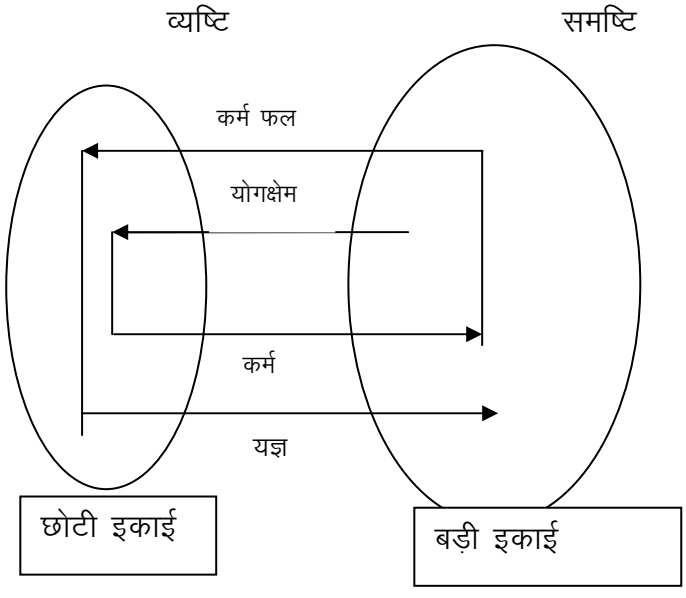

इसलिए प्रार्थना में हम 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' बोलते हैं और यही हमारा स्थायी भाव है तथा इसके लिए हमें प्रयत्नशील होना है।

आज का विकास यह टुकड़े जोड़कर चित्र बनाने जैसा है। जिस टुकड़े की जहाँ आवश्यकता हो वहाँ जोड़ दो, और काम निकाल लो। कलाकार टुकड़े जोडकर अच्छे नमूने बनाता है और हम उन्हें देखकर प्रशंसा भी करते हैं। लेकिन जहाँ से उसने यह टुकड़ा उठाया, वहाँ जिस विचार को व्यक्त करने हेतु वह चित्रित हुआ था, वह आशय दूसरी जगह जोड़ने से व्यक्त नही होता। अतः जो सर्वोत्तम की अभिव्यक्ति का विचार हुआ, वह नहीं हो पाता। क्योंकि चित्र बन तो जाता है, लेकिन बोल नहीं पाता, अभिव्यक्त नहीं कर पाता, भावनाओं का जागरण नही कर पाता। आज वही स्थिति आर्थिक विकास की है। विकास का विदेशी माडल व्यक्ति सुख के लिए है, जिसमें पृथ्वी के शोषण की ही प्रधानता है सभी नैसर्गिक संपदा का भरपूर उपयोग द्वारा, कारखाना लगाकर, पेड़ काट कर, भरपूर पानी का उपयोग कर मानव को प्रसन्न करने के लिए, उसकी हर आकांक्षा पूरी की जाये, लेकिन बिना यह जाने कि उस व्यक्ति का दुनियाँ में प्रयोजन क्या है।

लेकिन इंद्रियों की संतुष्टि तात्कालिक होती है, दूसरे की कोई वस्तु देखी तो फिर वो मेरे पास भी, उससे अधिक कीमती एवं आकर्षक होनी चाहिए। इसके लिए उत्पादन करो, और शोषण करो और असंतुष्टि पाओ। यह एक निरंतर और प्रचंड गति से बढ़ने वाली चाह है, जो कभी तृप्त नही हो सकती। इस सदा अतृप्त ही रहनेवाली तृप्ति के पीछे चलनेवाली लेन–देन, व्यापार यह हमेशा कष्टदायी ही होगा। क्योंकि इसके मूल में मनुष्य का इंद्रिय सुख मात्र है और हम जानते हैं कि वह चाह और अधिक, ज्यादा से ज्यादा उपभोग को ही बढ़ावा देगी।

आज उत्पादक या व्यापारी यांत्रिकी उत्पादन के आधार पर ज्यादा अमीर होते जा रहे हैं और दूसरी तरफ गरीब और ज्यादा गरीब होता जा रहा है, उसे दो वक्त की रोटी जुटाना मुश्किल हो गया है। ऐसी सामाजिक विषमता दिखने लगी है और उससे बेरोजगारी, अपराध असंतोष बढ़ रहा है। बढ़ती चाहतों ने हवस को जन्म दिया, तो विकृति भी बढ़ी है। जिस देश का जो मूल स्वभाव है, वहाँ जो संसाधन उपलब्ध है, वहाँ के वातावरण में जो हो सकता है, वहाँ के समाज की जो मानसिकता है उसी के अनुसार उस देश की चिति के आधार पर उस देश के विकास का प्रारूप/मॉडल तैयार होना चाहिए, न कि अन्य देशों की केवल फोटोकॉपी।

हमारी संस्कृति का आधार भोग नहीं अपितु त्याग रहा है। त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। आज मानवीय भावनाओं एवं जीवनमूल्यों का हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं रहा। व्यक्ति की प्रतिष्ठा का आधार उसका चरित्र उसकी योग्यता एवं उसके गुण नहीं रहे। पैसा ही प्रतिष्ठा का आधार बन गया है।

अब प्रश्न उठता है कि भारत के विकास का आधार क्या हो? और फिर उसी प्रारूप के आधार पर हमारी अर्थनीति बनानी होगी। जब हम भारत की बात करते हैं तो उसकी चिति, प्राणशक्ति यह 'धर्म' है। हमारे जीवन में वह अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त हो ऐसी हमारी विकास की नीति चाहिए। किसी भी विकास के माडल का अहम पहलू 'व्यक्ति' होता है। इसलिए यहां 'धर्माधारित शिक्षा' व्यवस्था का निर्माण हो। व्यक्ति निर्माण की ऐसी पद्धति जिसमें अपने अनुभव के आधार पर जीवन के शाश्वत मूल्यों की अनुभूति जो हमारें ऋषियों ने की, वह हम स्वयं करें, यही हमारी शिक्षा का परमोच्च आदर्श होना चाहिए।

संतुलित एवं संस्कारित व्यक्ति के निर्माण से ही सामाजिक स्थिरता आयेगी। पारस्पारिक अनुकूलता बढ़ेगी और एकात्मता का जागरण होगा। भारत यह कृषि प्रधान देश होने से सर्वोत्कृष्ट कृषिकला का विकास हमारा लक्ष्य होना चाहिए। इसके प्रति स्वाभिमान एवं रुचि बढ़े ऐसा हमारा प्रयास होना चाहिए। कृषि के सम्मान में बढ़ोत्तरी यह भारत के 'ग्राम विकास' के आधार पर ही संभव है। इस 'ग्रामोन्नयन' से 'राष्ट्रोन्नयन' होगा तभी भारत का विकास संभव होगा और शाश्वत विकास की दिशा जोर पकड़ेगी। यहाँ पर निर्मित

कलाओं, उद्योगों को विकसित एवं प्रस्थापित करना, लोकमान्य करना, स्वाभिमान का जागरण करना और उनके प्रगति के लिए नीतियाँ बनाना तथा उनका उत्कर्ष होना आवश्यक है। यांत्रिकी उत्पादन के साथ लघुउद्योग, कुटीरउद्योग, गृहउद्योग आदि को प्राथमिकता देकर बेरोजगारी के प्रश्न का समाधान करना होगा। इन सारे प्रयत्नों के आधार पर अपने 'आर्थिक विकास' की नीति की नीव रखनी आवश्यक है।

हमारा आदर्श 'समुत्कर्ष' का है। सम्यक उत्कर्ष याने 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' दोनो का साथ साथ विकास। आज का उदाहरण हम लें तो विश्व में आर्थिक मंदी आयी, लेकिन भारत पर उसका अधिक परिणाम नही हुआ। क्योंकि भारत की कौटुंबिक नीति बचत की है। जहाँ परिवार हैं, वहा बचत होती है, और जहाँ बचत होती है, वहा विकास होता है। हमारा परिवार ही हमारी आर्थिक ताकत है, उसे बचाये रखने के लिए व्यवस्थित एवं सामंजस्यपूर्ण प्रयत्न होने चाहिए।

केवल रोजगार से ही आर्थिक स्थिरता एवं समग्र विकास नही हो सकता। सारे प्रयत्नों के साथ–साथ स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग का प्राधान्य हो और अपनी स्वदेशी तकनीकी का विकास होना आवश्यक है। महात्मा गांधी ने यंग इंडिया के 1922 के अंक में सात सामाजिक पापों की चर्चा की है। वे हैं– 1 तत्त्वहीन राजनीति 2 श्रमबिन संपत्ति 3 विवेकहीन उपभोग 4 शीलहीन ज्ञान 5 मानवता हीन विज्ञान 6 समर्पण रहित पूजा 7 नीतिहीन व्यापार, परंतु जिन पापों का विवरण महात्मा गांधी ने किया, हम आज उसी राह पर आधुनिकता के नाम पर चलकर सारे पापों को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

हमारी अर्थव्यवस्था की स्थिति चंगू और मंगू के व्यापार जैसी है। दो आलसी मित्र थे। दोनों की माताओं ने एक को नींबू सरबत और एक को आम का सरबत बनाकर दिया और एक रुपये में एक ग्लास बेचने के लिए कहा और किसी को बिना मूल्य न देने के लिए कहा। रास्ते में चंगू ने मंगू से सरबत मांगा। मंगू ने मना किया, कहा कि एक रुपये लाओ तब दूंगा। चंगू के पास पैसे थे नही, इसलिए उसने सरबत नहीं लिया। थोडी देर बाद मंगू ने सरबत मांगा तो चंगू ने एक रुपया मांगा। मंगू के पास एक रुपया था और उसने सरबत पी लिया। अब रुपया चंगू के पास आ गया तो उसने भी सरबत पी लिया। देखते–देखते दिन भर में दोनों ने सौ ग्लास सरबत पिया, लेकिन आमदनी कुछ नहीं। केवल एक रुपये एक हाथ से दूसरे हाथ घूमता रहा। कहने को पैसे का व्यापार हुआ, ऑडिट रिर्पोट में पूरे सौ ग्लास सरबत का उपभोग और वह भी पैसे देकर, लेकिन आमदनी कुछ नहीं। आज हम इस घुमने वाली अर्थनीति में फंसते जा रहे हैं। जहां प्रगति व विकास के नाम पर केवल इस तरह का घुमाऊ व्यापार तंत्र मात्र है।(3)

हमारी अर्थ व्यवस्था के आधार –

1. प्रत्येक व्यक्ति के न्यूनतम जीवन स्तर का आश्वासन एवम् राष्ट्र की सुरक्षा सामर्थ्य की व्यवस्था।
2. उत्तरोत्तर समृद्धि हेतु व्यक्ति और राष्ट्र को वे साधन उपलब्ध हो सकें जिनसे वह अपनी चिति के आधार पर विश्व की प्रगति में योगदान कर सके।
3. इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार का अवसर मिले एवम् प्रकृति के साधनों का मितव्ययिता के साथ उपयोग हो।
4. राष्ट्र के उत्पादक उत्पादनों का विचार कर अनुकूल प्रौद्योगिकी का विकास करना।
5. यह व्यवस्था मानव की अवहेलना न कर उसके विकास में साधक हो तथा समाज के सांस्कृतिक एवं अन्य जीवन–मूल्यों की रक्षा करे। यह लक्ष्मण रेखा है जिसका अतिक्रमण अर्थ–रचना किसी भी परिस्थिति में नही कर सकती।
6. विभिन्न उद्योगों आदि में राज्य, व्यक्ति तथा अन्य संस्थाओं के स्वामित्व का निर्णय व्यवहारिक आधार पर हो। (1)

सत्य तो यह है कि विश्व में परस्पर संघर्ष, विद्वेष, प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर प्रकट हो रही पश्चिमी राष्ट्रवाद की विभीषिकाओं से विश्व को बचाना है तो उसके लिए भारत के सशक्त राष्ट्रवाद को ही संगठित और सक्षम बनाकर खड़ा करना होगा। यही विश्व कल्याण का मार्ग है। ज्ञानरहित भक्ति ढोंग होता है, कर्मरहित ज्ञान व्यर्थ होता है, भक्तिरहित कर्म नीरस होता है और ज्ञानरहित कर्म अन्धा होता है। इस प्रकार भक्ति–समन्वित ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म ही हमारा आदर्श है।

हमें धर्मराज्य, लोकतंत्र, सामाजिक समानता और आर्थिक विकेंद्रीकरण को अपना लक्ष्य बनाना होगा। इन सबका सम्मिलित निष्कर्ष ही हमें एक ऐसा जीवन दर्शन उपलब्ध करा सकेगा जो आज के समस्त झंझावातों में हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। हम इसे किसी भी नाम से पुकार सकते हैं, हिन्दुत्ववाद, मानवतावाद अथवा अन्य कोई नया वाद, किंतु यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह संचारित कर सकेगा। सम्भव है विश्रान्ति के चौराहे चर खड़े विश्व के लिए भी यह मार्ग–दर्शन का कार्य कर सके।

संदर्भ–

1. एकात्म मानववाद – पं.दीनदयाल उपाध्याय
2. भारतीय अर्थ–नीति – पं.दीनदयाल उपाध्याय
3. अर्थक्रांति – व्याख्यान – मुकुल कानिटकर
4. संगठन गढ़े चलो –मुकुल कानिटकर
5. राष्ट्र जीवन की दिशा– पं.दीनदयाल उपाध्याय

एकात्म मानववाद के विशेष संदर्भ में आर्थिक विकास

प्रो0 राम चन्द्र सिंह*

सुदुर अतीत से वर्तमान काल तक भारत के महान चिंतकों ने मानव उत्कर्ष हेतु अनेकानेक सुविचारित प्रणालियों को अग्रसारित किया। मनु से लेकर पं0 दीन दयाल उपाध्याय जी तक की प्रणालियां उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः भगवान कृष्ण ने महारथी अर्जुन को परा–अपरा के संदर्भ में जो ज्ञान प्रदान किया, उस ज्ञान से वर्तमान जगत विमुख या विचलित हो गया है। भारत सहित विश्व की अधिकांश आबादी जड़ की तरफ झुक गयी है। परम चैतन्य से दूर हो जाने के कारण लोगों का झुकाव प्राकृतिक संसाधनों की तरफ बढ़ता चला जा रहा है। प्राकृतिक संसाधन अर्थात् संपदा की श्रेष्ठता ने समाज में स्थान प्राप्त किया। चारों पुरुषार्थों में धर्म व मोक्ष का स्थान गौण हो गया है। इसके पीछे पश्चिम के चिंतकों की महती भूमिका है। इस संकट की तरफ भगवान कृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा था ''कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः''[†] स्पष्ट है कि कामना के अनुसार उपभोग परायण मनुष्यों का यह निश्चय होता है कि सुख भोगना और संग्रह करना–इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था में आज यही है; ''मुद्रा और मुद्रा तथा और अधिक मुद्रा'' इस वैश्विक अर्थव्यवस्था का नाम न्यू क्लासिकल. न्यू कींसीयन है। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के जीवनकाल में इस अर्थ व्यवस्था का प्रभाव व्याप्त हो चुका था। उपाध्याय जी ने चारों पुरुषार्थों के संदर्भ में व भारतीय मनीषियों के शाश्वत विचारों के परिप्रेक्ष्य में भारत को विशेष रूप से व विश्व को सामान्य रूप से ''एकात्म मानववाद'' का संदेश दिया। जब गीता में अर्जुन का मोह नष्ट हुआ तब उन्हें विजय श्री ने वरण किया। उसी प्रकार एकात्म मानववाद से मनुष्य चतुर्विध पूर्णता को प्राप्त कर सकेगा।

एकात्म मानववादी दृष्टिकोण के प्रेरक प्रतिभाशाली पं0 दीन दयाल उपाध्याय जी ने औद्योगिक क्रान्ति के दूसरे चरण में जन्म ग्रहण किया था। उल्लेख्य है कि औद्योगिक क्रान्ति ने समय व स्थान के सम्बन्धों में पूर्व की अपेक्षा अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित किया और वह परिवर्तन जारी है। ठहराव नहीं है, आज इस क्रान्ति का तीसरा चरण है। इसे सूचना क्रान्ति कहते हैं। इस क्रान्ति ने ध्वनि की गति को प्रकाश की गति में परिवर्तित करके मोबाइल उपस्थित कर दिया है। करतल पर विश्व अवस्थित हो गया है। विश्व नीड्म साकार हो गया। अंतरिक्ष में बस्ती बसाने का समय उपस्थित हो गया, लेकिन मानव की गरिमा में ग्रहण लगता चला गया। ग्रहण में अभिवृद्धि होती गयी।

यद्यपि ''मानवाधिकार'' को वैश्विक स्तर पर द्वितीय महायुद्ध के तत्काल पश्चात् मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। इस मानवाधिकार में आर्थिक अधिकार सन्निहित नहीं थे। आर्थिक क्षेत्र पूंजीवाद और साम्यवाद के अन्तर्गत विभक्त था। कुछ क्षेत्र मिश्रित व्यवस्था के अन्तर्गत थे। कुछ क्षेत्र निरंकुश राजतंत्र में पड़े हुये थे। मानवीय छटपटाहट थी। उपाध्याय जी ने ऐसे परिवेश में ''एकात्म मानववाद'' के दर्शन को अग्रसारित किया। इस मान्यता की स्थापना हेतु उपाध्याय जी ने विशद रूप से पश्चिम के अर्थशास्त्र व दर्शन का मंथन किया। पूर्व के दर्शन से वे पूर्णतया भिज्ञ थे। पश्चिमी जगत में साम्यवाद व पूंजीवाद का बोलबाला था। उन दिनों भारत मिश्रित विचार धारा में प्रवाहित था। साम्यवादियों का नारा था ''कमाने वाला खायेगा'' और पूंजीवादी इस नारे के विरोध में नहीं थे। दो विपरीत पद्धतियों में इस बिन्दु पर सामंजस्य था, लेकिन उसी समय उपाध्याय जी ने नारा दिया ''जन्मा सो खायेगा और कमाने वाला खिलायेगा''।

उनका कथन था कि जन्म ग्रहण करते ही खाने का नैसर्गिक अधिकार जीव को प्राप्त हो जाता है। कमाने के सम्बंध में उपाध्याय जी का मत था कि अन्य कारकों के साथ शिक्षा व श्रम इसके कारण होते हैं।

---

* 55 मिश्र पोखरा, पो.– गीता मन्दिर, वाराणसी, उ0प्र0

† गीता 16 (11)

उल्लेख्य है कि उत्पादन के कारकों में शिक्षा को प्राचीन काल से ही स्थान प्राप्त था। क्योंकि आचार्य चाणक्य ने शिक्षा व धर्म विहीन व्यक्ति को पशु स्वरूप स्वीकार किया था। पश्चिमी अर्थशास्त्र ने उत्पादन के कारकों में शिक्षा को 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थान दिया। इसके पूर्व भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन तथा साहस को ही उत्पादन का कारक माना जाता था। उपाध्याय जी ने प्राचीन भारत के मतानुसार शिक्षा व श्रम को ही उत्पादक के रूप में विशिष्टिता प्रदान की। उल्लेख्य है कि कुछ समय पश्चात् प्रो0 गालब्रेथ ने ''डिफ्यूजन आफ कैपिटल'' नामक पुस्तक लिखी। उन्होंने उत्पादन के कारकों में शिक्षा को विशेष महत्व दिया। पश्चिमी जगत ने भी भारतीय ज्ञान–विज्ञान यूनान के माध्यम से प्राप्त किया था। भारत पर सिकंदर के आक्रमण के कारण भारतीय ज्ञान–विज्ञान यूनान तक पहुंचा तथा वहां से चतुर्दिक व्याप्त हुआ। सिकंदर के आक्रमण के पूर्व तथागत बुद्ध के उपदेश वैश्विक महत्ता को प्राप्त हुए थे। बुद्ध से चन्द्रगुप्त तक विश्व को भारत ने शिक्षा व नीतियों के पालन पर ऐतिहासिक तथ्य के रूप में संदेश दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ ''अर्थशास्त्र'' के माध्यम से मानव जीवन की सम्पूर्णता की अभिवृद्धि हेतु राजा व प्रजा के बीच करा रोपण को व्यवस्थित किया था। धान्य के छठे भाग और पण्य के दसवें भाग को कर के रूप में देय बतलाया था।[ऽ] राजा के कार्यों में शिक्षा प्रचार सम्मिलित था। शिक्षा की समाजिक व राजकीय महत्ता भारत वर्ष में आचार्य चाणक्य के काल से लकर 1835 ई0 तक अविरल बनी रही। विवरण प्राप्त होता है कि अंग्रेजों ने भारत की शिक्षा पद्धति पर उपकार नहीं किया, बल्कि भारत की समृद्ध शिक्षा पद्धति का विनाश कर दिया।[ः] 2 फरवरी, 1835 ई0 को मैकाले ने ब्रिटिश पार्लियामेंट में ''भारतीय शिक्षा व्यवस्था'' पर भाषण दिया। अपने भाषण में मैकाले ने कहा।['']

1. भारत में जितना भी धन वैभव व सम्पत्ति है, वह भारत की शिक्षा व्यवस्था के कारण है। भारत में साक्षरता शत–प्रतिशत है। भारत के प्रत्येक राजस्व वाले गांवों में विद्यालय हैं। स्कूलों (गुरुकुलों) में सभी वर्गों को शिक्षा प्रदान की जाती है। राजस्व गांवों की संख्या 7 लाख 32 हजार है।

2. भारत में 1835 ई0 तक 15800 हायर स्टडीज सेंटर हैं। इनमें गणित, खगोल शास्त्र, धातु विज्ञान, रसायन शास्त्र, कारीगरी (इंजीनियरिंग) और चिकित्सा शास्त्र आदि पढ़ाये जाते हैं। कॉगड़ा विश्वविद्यालय (हिमाचल) सर्जरी शिक्षा के लिए प्रसिद्ध है।

वस्तुतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी, फ्रेंच कम्पनी व पुर्तगीज इस तथ्य से अवगत थे कि पूर्वी विश्व खासकर भारत में शिक्षा, श्रम व धार्मिक मर्यादाओं के कारण अपार संपदा एकत्र हुई है। भारत की ख्याति सोने की चिड़िया के रूप में विख्यात हो चुकी थी। इसे लूट सके सो लूट। भारत में दीर्घ अवधि तक विरोधाभासी शासन और ग्रेटब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति के जन्म ने अन्ततः भारत को अंग्रेजों के हाथ में सौंप दिया। अंग्रेजों ने पहला ठोस कार्य किया, भारतीय शिक्षा का मूलोच्छेद। लेकिन ग्रेट ब्रिटेन सहित सम्पूर्ण पश्चिमी जगत ने भारत प्रदत्त शिक्षा के महत्व को अंगीकार किया। प्रख्यात अमेरिकी दार्शनिक विल डुरंड ने लिखा ''समय अवश्य आयेगा जब लोग महसूस करेंगे कि सरकार का सर्वोच्च कार्य विधान पारित करना नहीं होगा बल्कि जन शिक्षण हेतु विद्यालयों की स्थापना का कार्य होगा।[ऽऽ]

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने लिखा है कि ब्रिटिश भारत काल में देशी राज्यों में गुरुकुल वाली शिक्षा निःशुल्क थी। आगे पंडित जी ने स्पष्ट किया कि क्या वृक्ष को सींचने के उपक्रम में वृक्ष से शुल्क मांगा जाता है।[ऽऽ] शिक्षा के महत्व के कारण महात्मा गांधी ने बुनियादी तालीम की योजना प्रस्तुत की थी। आचार्य बिनोवा भावे ने ''ब्रह्म विद्या'' की स्थापना की। आधुनिक काल में पं0 मदन मोहन मालवीय, महात्मा गांधी व आचार्य

[ऽ] प्रचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृष्ठ 480, डॉ0 परमात्मा शरण

[ः] भारत में शिक्षा का अतीत कालः श्री अनुराग जी चौधरी, उद्धृत कल्याण वर्ष 88, संख्या –4

[''] वहीं

[ऽऽ] दी व्लासर्स ऑफ फिलासोफी, विल डुरंट, पृष्ठ –287

[ऽऽ] एकात्म मानववाद पृष्ठ –6

बिनोवा भावे तथा डॉ0 सम्पूर्णानन्द एवं पं0 दीन दयाल उपाध्याय जी का योगदान शिक्षा व अर्थ–रचना के क्षेत्रों में परा व अपरा के संयुक्त संयोजन के साथ रहा है।

उपाध्याय जी का चिंतन धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की भारतीय दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक काल की विषम परिस्थितियों की तरफ उन्मुख था। वे मानते थे कि भारत ने शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व उपलब्धि प्राप्त कर ली थी। जंग रहित इस्पात व सिविल इंजीनियरिंग तथा स्वास्थ्य व चीर फाड़ के क्षेत्र में भारत का शैक्षणिक ज्ञान विश्वबंद्य रहा है। लेकिन वाष्प शक्ति चालित इंजन और विस्फोट जन्य उपकरण भारत के हाथ नहीं लगे थे। गणित व खगोल विद्या में भारत तत्कालीन काल में विश्व के शीर्ष पर था। फिर उपाध्याय जी ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना कर भारत की श्रेष्ठता और भारत की गर्हित गिरावट का मूल्यांकन किया। मूल्यांकन के रूप में उन्होंने स्वतंत्र भारत को एकात्म मानववाद का संदेश दिया। वस्तुतः यह संदेश वैश्विक भी है।

एकात्म मानववाद की पृष्ठ भूमिः

भारत सहित विश्व मानव अनेकानेक मत–मतांतरों व पंथों तथा रीलिजन में विभक्त है। इस कारण भारत सहित पूरे विश्व में धर्म–विमुखता का प्रभाव बढ़ता चला गया। धर्म की अवहेलना जाने –अनजाने में 19वीं शताब्दी से लेकर अबतक पूरे जोर के साथ जारी है। इसका तात्कालिक प्रभाव आर्थिक क्रियाओं पर पड़ा तथा दुष्प्रभाव उत्पन्न होने लगे एवं विकासान्मुख होते चले गये। स्वहित का इतना उत्कर्ष हुआ कि परहित विमुखता का सर्वत्र बोलबाला होने लगा, उपभोक्तावाद छा गया। लक्ष्मी–विष्णु के बीच अन्तराल उपस्थित हुआ। ज्ञात है कि भारत की संस्कृति में 'लक्ष्मी' अर्थ की प्रतीक हैं, और 'विष्णु' धर्म के स्वरूप हैं। विकास माडल जो पश्चिम से चला वह भारतीय संदर्भ में वैकवास माडल हुआ। पानी का जहाज जब आगे बढ़ता है तो धुआं और गंदा पानी छोड़ते हुए बढ़ता जाता है। भारत जैसे देश बैकवास में पड़ गये। यद्यपि पश्चिमी देशों ने अपने यहां असमानताओं में कमी करने के कार्य में कुछ सफलताएं प्राप्त की, लेकिन सुख व शान्ति को वे प्राप्त न कर सके। गुर्नारमिर्डल ने अपने एशियन ड्रामा में लिखा है कि असमानताओं के विषय में प्राचीन मान्यताएं पूर्ण रूपेण गलत हैं।[§§] मिर्डल ने बाजार की शक्तियों को ही मुख्य कारण माना है। धर्म की शक्ति को स्वीकार नहीं किया।

प्रश्न उपस्थित होता है कि वैज्ञानिक–तकनीकी क्रान्तियों तथा प्रबन्ध शास्त्र के विकास के बावजूद असमानताओं में निरंतर अभिवृद्धि क्यों होती जा रही है? चीन देश के मजदूर और भारत के किसान तथा पश्चिमी देशों के सामान्य नागरिक आज भी संत्रस्त क्यों हैं? इनकी संत्रस्तता औद्योगिक क्रान्ति व कृषि से प्रारम्भ हुई और जारी है, क्योंकि गांवों का ही अस्तित्व तीव्र गति से समाप्त होने लगा। गावों की समाप्ति से किसान श्रमिक वर्ग में परिवर्तित होने लगे। श्रमिकों के स्थानीय समायोजन के अभाव में श्रमिक खनाबदोश के रूप में भटकने लगे। विवरण के अनुसार पश्चिमी जर्मनी में सिर्फ 5 प्रतिशत गांव शेष बचे हैं। पूर्वी जर्मनी में 20 प्रतिशत तथा फ्रांस में 24 प्रतिशत व ग्रेटब्रिटेन में 10 प्रतिशत गांव बच पाये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में 20 प्रतिशत व रूस में 28 प्रतिशत तथा चीन में 45 प्रतिशत गांवों का अस्तित्व शेष रह गया है। भारत में 68 प्रतिशत गांव अब तक बच पाये हैं। गांवों के विनाश से कृषक वर्ग विस्थापित होते जा रहे हैं। पर्यावरण को अकल्पित क्षति हो रही है। पशु, पक्षी, वृक्ष व वन संपदा तथा नदियों के अस्तित्व पर वज्रपात हो रहा है। पर्यावरण की गहरी समस्याएं (डीप इकोलाजी) बढ़ती जा रही है। महाकवि जय शंकर प्रसाद की ''कामायनी'' में ऐसी विषम व प्रलयंकारी समस्याओं के संबन्ध में लिखा है ''हिमगिरी के उच्च शिखर पर बैठा पुरुष महान, निजनयनों से देख रहा था सृष्टि का प्रलय प्रवाह''।

आज धर्म विमुखता, स्वहित तथा भोगवाद के त्रिदोष में मानव समुदाय तेजी से फंसता जा रहा है। ऐसी विषम स्थिति के निवारणार्थ उपाध्याय जी एकात्म मानववाद का संदेश सामान्य रूप से विश्व को एवं

[§§] एशियन ड्रामा, गुर्नार मिर्डल, खण्ड द्वितीय पृष्ठ – 896

विशेष रूप से भारत को देते हैं। तथ्य यह है कि पूर्व काल में परा–अपरा के विमर्श में प्रकृति से परे परमेश्वर की शक्ति की मान्यता रही है। परमेश्वर को धर्म विग्रह कहा गया। समाज की सर्वोच्च शक्ति धर्म में समाहित थी। वर्तमान कालमें समाज की सर्वोच्च शक्ति ''बाजार'' में प्रतिष्ठित हो गयी है। ''बाजार'' मांग–पूर्ति का उपक्रम है। जब अंग्रेज कलकत्ता से बढ़ते–बढ़ते दिल्ली की तरफ प्रस्थान कर रहे थे उस समय भारत की देशी रियासतों और पश्चिमी देशों के व्यापारियों के बीच विभिन्न मुद्राओं के मूल्य निर्धारण की समस्याएं थीं। तब उत्तर प्रदेश के फरूर्खाबाद में एक कहावत प्रचलित हुयी– खुल्ला खेल फरूर्खाबादी। इस खेल के आगोश में भारत पड़ता गया और अन्ततः भारत को अपनी आजादी गंवानी पड़ी। विश्व व्यापार संगठन में पुराना फरूर्खावादी खेल खेला जा रहा है। राष्ट्रों के समूह में बड़े आठ राष्ट्र और कुछ मझोले राष्ट्रों को मिला कर 20 राष्ट्रों का समूह सम्पूर्ण मानव समुदाय का विकास ''बाजार माडल'' द्वारा कर रहा है। इस उपक्रम में पूर्व सोवियत संघ के सभी देश लाल चीन तथा पूंजीवादी देश व अन्य सभी देशों की एकजुटता है। बाजार प्राप्ति की कूटनीति में एकला चलो का उद्घोष तिरोहित हो गया है। आर्थिक विकास के अनगिनत मॉडलों के जंगल में मानवीय अस्तित्व खो गया है। इस वर्तमान स्थिति तक पहुंचने की पृष्ठभूमि में आर्थिक विकास के विचारों के अभ्युदय और विचारों के विशिष्टीकरण की प्रगति का सिंहावलोकन तथा पश्चिमी देशों के आर्थिक विचारों के विश्लेषण से पूर्व भारतीय आर्थिक विचारों का संक्षिप्त विश्लेषण समीचीन होगा। उपाध्याय जी ने दोनों क्षेत्रों के विश्लेषण के उपरान्त ही 'एकात्म मानववाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। एकात्म मानववाद में सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों पक्षों का विश्लेषण समाहित है।

भारत के कतिपय विचारकों के आर्थिक विचार

महाराज मनु ने विश्व को सर्व प्रथम श्रम–विभाजन का सिद्धान्त प्रदान किया। वह सिद्धान्त आज भी प्रचलन में है। यद्यपि भारतीय परिवेश में मनु प्रवर्तित श्रम विभाजन का सिद्धान्त अनेकानेक कारणवश रूढ़ हो गया तथा जाति में परिवर्तित हो गया। आर्थिक क्षेत्र में सम्पूर्ण विश्व के अन्तर्गत श्रमविभाजन का प्रचलन आज भी है और बढ़ता ही जा रहा है। श्रमविभाजन की शक्तियों के कारण गांव, बाजार में और बड़े बाजार, नगरों तथा नगर, बड़े शहरों में निरंतर परिवर्तित हो रहे हैं। स्पष्ट है कि श्रम–विभाजन मनु संहिता की देन है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्शे (Nitzche) ने तो यहाँ तक कह दिया है कि मनुस्मृति बाईबिल से भी महान ग्रन्थ है।[***] वेदों पर ही आधारित याज्ञवलक्य नारद, पराशर और गौतम व मनु स्मृतियाँ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका भारतीयों के जीवन पर अमिट प्रभाव है। इनमें धर्म (रिलीजन नहीं), अर्थ, काम व मोक्ष की विस्तृत व गहराई के साथ मंथन तथा निर्णय हुआ है। इन स्मृतियों के अतिरिक्त दो महाकाव्य–रामायण व महाभारत सामाजिक तथा आर्थिक नीतियों का चित्रण प्रस्तुत करते हैं।

वैदिक युग में धन लोलुपता को पाप माना जाता था, लेकिन महाभारत काल में अर्थ की महत्ता प्रतिष्ठित हुई, क्योंकि भीष्म ने स्पष्ट कहा था कि जगत की स्थिति वार्ता आधारित है। यद्यपि इस कथन में वर्तमान काल की धन लोलुपता की भावना नहीं थी। रामायण काल में धातु की मुद्रा प्रचलन में आ गयी थी। रामायण कालीन मुद्रा का नाम डॉ0 एस. एन. व्यास के अनुसार ''निस्क'' (Niska) था। इसकी कृषि, उद्योग व व्यापार की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। विनिमय सरलता पूर्वक संचालित हो चुका था, वस्तु विनिमय भी प्रचलन में था। इस प्रचलन को निस्क्रिया के नाम से जाना जाता था। 'वार्ता' शब्द से राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का संबोधन था। डॉ0 एस. एन. व्यास ने वार्ता शब्द का प्रयोग वित्त अथवा राजस्व के रूप में भी माना है।[†††] यह भी सत्य है कि रामायण काल में आर्थिक विचारों का विकास हो चुका था। ऐसी ही स्थिति महाभारत में भी थी। लेकिन धर्म व राजनीति को इन कालों में प्रमुखता प्राप्त थी। कालान्तर मौर्य काल में पूर्व की अपेक्षा

[***] आर्थिक विचारों का इतिहासः डॉ0 बी0सी0 सिन्हा व जी0सी0 सिंघई, पृष्ठ –466

[†††] डॉ0 एस0एन0 व्यास : इण्डिया इन द रामायन एज, पृष्ठ – 233

आर्थिक विचारों के विकास में तीव्रता प्राप्त हुई। इसका मुख्य श्रेय आचार्य चाणक्य को है। उन्होंने अपनी अमर कृति ''अर्थशास्त्र'' की रचना की।

विदेशों में ''अर्थशास्त्र'' की व्यापक आलोचना हुयी। विदेशियों को आश्चर्य था और उस ग्रन्थ में संगृहीत ज्ञान तथा भारत की गुलामी को देखते हुए वे निर्णय नहीं कर पा रहे थे। लार्ड कर्जन ने यहां तक कह दिया था कि भारतीयों को सत्य का ज्ञान पश्चिम से प्राप्त हुआ। महात्मा गांधी ने कर्जन का प्रतिवाद किया था। कौटिल्य के ''अर्थशास्त्र'' में इन सच्चाइयों की पत्रियां संग्रहीत हैं। भारत के मध्य युग व ब्रिटिश आगमन तक के युग को दुर्भाग्य के रूप में माना जाता है। अंग्रेजों ने एक तरफ भारत की प्राचीन संस्कृति का गहराई के साथ अध्ययन किया। कतिपय विद्वानों ने भारतीय संस्कृति, सभ्यता व देश की शिक्षा व्यवस्था और धार्मिक मान्यताओं तथा इस देश के प्राचीन ग्रन्थों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की, तो दूसरी तरफ अनेकों ने खास तौर पर शासन से सम्बन्धित विद्वानों ने इस देश को सभ्य और शिक्षित बनाने का संकल्प लिया। फलस्वरूप अनेक विदेशी संस्थाओं ने कार्य प्रारम्भ कर दिया।

भारत का राजनीतिक पतन हो चुका था। आर्थिक व शैक्षणिक पतन की तरफ देश बढ़ रहा था। ऐसे समय में दादा भाई नौरोजी का अवतरण हुआ। उन्होंने 'भारत में गरीबी के कारणों' पर प्रकाश डाला तथा भारत के धन को विदेश में ले जाने को इसका आधार माना। ड्रेन थ्योरी पर नौरोजी ने ब्रिटिश संसद में भाषण दिया। दोनों का कारण अंग्रेजों की भारतीय शासन व्यवस्था को नौरोजी ने माना। आज स्वतंत्र भारत में ''कालेधन'' की समस्या छाई हुई है। 1871 ई0 में दादा भाई नौरोजी दिवंगत हुए। स्वतंत्रता के 67 वर्ष बाद भी नौरोजी द्वारा वर्णित तीनों दोष देश में प्रतिष्ठित हैं। केवल एक अंतर यह है कि सफेद अंग्रेजों की जगह काले रंग के स्वदेशी लोगों का अब शासन है। लेकिन गरीब और कालेधन में हजार गुना इजाफा हो चुका है।

आधुनिक भारतीय अर्थशास्त्रियों में जस्टिस रानाडे का नाम महत्वपूर्ण है। रानाडे 1901 ई0 तक जीवित थे। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यावाद की मुक्त व्यापार नीति की आलोचना की थी। पश्चिम के राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री लिस्ट के मत से सहमत थे। उन्होंने भूमि नीति और कृषकों के सम्बंध में ब्रिटिश भारत सरकार की आलोचना किया। इस आलोचना के कारण शाही कृषि आयोग की स्थापना हुई। इस आयोग ने 1904 ई0 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के कारण भारत में सहकारी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। आयोग किसानों की दयनीय दशा से तो द्रवित था, साथ ही साथ आयोग भारत की सामाजिक स्थिति से अत्यधिक दुखी था। भारत की जाति व्यवस्था पर प्रहार करते हुए आयोग के एक सदस्य केने ने लिखाः 'भारतीय कृषक गरीबी में जन्म लेता है, गरीबी में ही पलता है तथा गरीबी में ही गुजर (मर) जाता है।' इसके आगे उसने लिखा 'भारत में यद्यपि कृषि अत्यधिक पिछडी अवस्था में है, कृषि की सहायता के लिए सहकारी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, लेकिन जातियों के बीच असहकार का जो बीजारोपण हुआ वह 20वीं व 21वीं शताब्दियों में निरंतर विकसित होता गया। यह पद्धति थी ब्रिटिश अनरूल इन इंडिया की पद्धति पर ध्यान रखने के कारण दीनदयाल जी ने एकात्म मानववाद का विचार बढ़ाया।

जस्टिस रानाडे के समकालीन विचारक सर्वश्री रमेश चन्द्र दत्त जो 1909 ई0 तक जीवित थे वे आई0 सी0 एस0 अधिकारी थे। उन्होंने गरीबी और अकाल का कारण अत्यधिक भूमि कर को माना। गवर्नर जनरल से मतभेद के कारण वर्दवान में कमिश्नर के पद से त्यागपत्र दिया। उनके भूमिकर के विचार से भारतीय किसानों में देशव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। स्वतंत्र भारत में भी कृषकों की समस्यायें बनी हुई हैं तथा पहले कृषक अकाल ग्रस्त होते थे अब आत्महत्या की तरफ बढ़ रहे हैं। परिवर्तन का प्रयास जारी है।

जस्टिस रानाडे के समय सर्वश्री गोपाल कृष्ण गोखले का स्थान भारत की राजनीति, अर्थनीति व स्वतंत्रता आन्दोलन के परिपेक्ष्य में विशिष्ट था। वाइसराय की कौंसिल के वे सदस्य थे। गांधी जी के गुरू माने जाते थे। गोखले जी ने कर नीति, बजट और रक्षा–बजट और सरकारी नौकरियों में भारतीयों के लिए आरक्षण की मांग प्रस्तुत की थी। गोखले जी की मान्यता थी बजट में व्यय का निस्तारण पहले कर दिया जाना चाहिए।

अविचारित व्यय को बजट से बाहर रखना चाहिए। गोखले ने भारत में गरीबी और प्रवासी भारतीयों के रंग–भेद नीति के खिलाफ पर्याप्त कार्य किया। वर्तमान विचारकों की कड़ी में महात्मा गांधी का आर्थिक विचार अत्यंत महत्वपूर्ण है। गांधी जी ने श्रम, शिक्षा और धर्म की त्रयी तैयार किया था। व्यक्ति की गति अथवा अधोगति के लिए व्यक्ति को ही मुख्य कारण माना। गांधी जी का कथन था कि व्यक्ति के लिए सत्य, सामाजिक संबन्धों के लिए अहिंसा, जीवन निर्वाह के लिए श्रम तथा शान्ति प्राप्ति हेतु सेवा की अनिवार्यता होती है। इन कारकों से पुरुष पूर्णता को प्राप्त करता है। गांधी जी ने श्रम के महत्व को आर्थिक विकास से जोड़ने का कार्य किया। गांधी जी के अनुसार आर्थिक विकास हेतु पूंजी की बड़े भाग को बड़ी मशीनों पर विनियोजित करना उचित नहीं। गांधी जी लघु मशीनों के पक्षधर थे। उनके अनुसार ''लघु सुन्दर'' है। उनकी इस दृष्टि में पर्यावरण की सुरक्षा का भाव था तथा अधिकाधिक श्रमशक्ति को काम पर लगाना भी था। गांधी जी उन अर्थशास्त्रियों में हैं जो अर्थशास्त्र को कल्याण व नैतिक मूल्यों से तटस्थ नहीं रखना चाहते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि समस्त मानवीय मूल्यों का मूल्यांकन मुद्रा द्वारा नहीं मापा जा सकता है। गांधी जी के इस कथन के भावार्थ दूरगामी महत्व के थे। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पश्चिम का अर्थशास्त्र धर्म विमुख होने लगा। सोवियत क्रान्ति ने इसमें तेजी प्रदान की। मार्क्स धर्म और अफीम को बराबर मानता था। उसकी मान्यताओं का वैश्विक प्रभाव पड़ा। भारत के नेताओं का बड़ा वर्ग मार्क्स के प्रभाव में आ चुका था, लेकिन गांधी अविचलित थे। शहरीकरण बनाम ग्रामीकरण तथा बड़ी पूंजी विनियोजन बनाम लघु व मध्यम पूंजी विनियोजन और बड़ी मशीन बनाम छोटी मशीन के मुद्दों पर गांधी जी अपनी मान्यताओं पर अडिग थे।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त समाज के सर्वांगीण स्तर पर लागू किया जाय। इसका प्रतिपादन गांधी जी ने किया था। ट्रस्टीशिप अहिंसा आधारित क्रान्तिकारी सिद्धान्त है। इसमें धर्म अपने उच्चस्तरीय भाव में है। गांधी जी ने आश्रम व्यवस्था की पुरानी पद्धति में परिष्कार किया। आश्रम को समाज व मानवहित तथा व्यक्तित्व निर्माण के अनुकूल करते हुए परा–अपरा से संयुक्त किया। बुनियादी तालीम की नींव को उन्होंने मजबूत किया। यंग इण्डिया में गांधी जी ने 'मजदूरी व लाभ' पर महत्वपूर्ण ढंग से लिखा है।[‡‡‡] गांधी के अनुसार ''समय आ रहा है जब कि बिना पूर्व सूचना के कोई लाभ नहीं होगा। उल्लेख्य है कि तब तक सूचना क्रान्ति नहीं हुई थी। गांधी के आर्थिक माडल में वितरण का महत्व अधिक है। समान वितरण के पक्ष में गांधी जी थे। हिन्द स्वराज में उन्होंने इस मत की स्थापना की। गांधी जी ने लिखा, ''समान वितरण का सही अर्थ यह है– प्रत्येक मनुष्य को सभी आवश्यक एवं स्वाभाविक जरूरत की वस्तुयें उपलब्ध हों। अहिंसा पर आधारित एक समाज इससे अधिक किसी दूसरे आदर्श को नहीं रखता है। संभव है कि हम इस आदर्श को प्राप्त न कर सकें। परन्तु हमें इस आदर्श को हमेशा अपने ध्यान में रखना चाहिए। साथ ही साथ इस आदर्श के निकटतम पहुंचने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रयत्न में साधन व साध्य की शुचिता को बनाये रखना चाहिए।[§§§] गांधी जी ने मानव को पूर्णता प्राप्त करने के लिए विश्व के सभी विचारकों के भावों को मधुमक्खी की तरह ग्रहण व एकत्र किया तथा सभ्यता व संस्कृति हेतु अपने प्रयोगों से शहद का निर्माण किया, लेकिन उनकी शहद अपने निर्माण प्रक्रिया को जारी नहीं रख सकी।

गांधी जी के अध्यात्मिक उत्तराधिकारी आचार्य बिनावा भावे थे। आचार्य भावे ने भूदान, संपत्तिदान व जीवनदान आन्दोलन खड़ा किया। प्रत्येक भूमिधारी से छठवां भाग की मांग करते थे। भरत–राम मंदिर व ब्रह्मविद्या मंदिर की स्थापना करके रामायण व गीता के धार्मिक स्वरूप को विकसित करने का प्रयास किया। बिनोवा भावे के विकास माडल ने राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय ख्याति को प्राप्त किया। अल्पकाल में विकास माडल समाप्त हो गया। गांधी जी के राजनीतिक उत्तराधिकारी पं0 जवाहर लाल नेहरू गांधी जी के व्यक्तित्व व कृतित्व से अभिभूत थे, लेकिन उनके ऊपर यूरोप के सिन–फिन समाजवादियों, सोवियत क्रान्ति तथा लार्ड कींस के आर्थिक मॉडल का व्यापक प्रभाव था। नेहरू जी ने भारत की खोज तथा विश्व इतिहास की झलक नामक

[‡‡‡] यंग इण्डिया, जून 8, 1921

[§§§] हरिजन, अगस्त 25, 1940, पृष्ठ–260

पुस्तकों की रचना की। अन्तर राष्ट्रीय राजनीति में उन्होंने ''निर्गुटराष्ट्रों'' की अगुवायी की। आर्थिक विचार धारा के स्थान पर नेहरू जी ने 'पूजीवाद' व ''साम्यवाद'' के विकल्प में ''मिश्रित अर्थव्यवस्था'' की नई व्यवस्था को अग्रसारित किया। राजनीति के क्षेत्र में ''जनतांत्रिक समाजवाद'' तथा अर्थनीति के क्षेत्र में ''मिश्रित अर्थव्यवस्था'' और आर्थिक विकास के क्षेत्र में पंचवर्षीय योजनाओं को प्रारम्भ करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है।

पश्चिम के अर्थशास्त्र जन्य वैश्विक अर्थव्यवस्था

आधुनिक अर्थशास्त्र वस्तुतः यूरोप के चिंतकों की देन है। यह चिंतन महाजनवाद (मारकेटिलिजम) से प्रारम्भ होकर न्यू–क्लासिकल व न्यू–कींसीयन अर्थशास्त्र तक विकसित हुआ। महाजनवाद में स्वर्ण व चांदी को मुख्य सम्पन्नता का आधार प्राप्त था। इस विचारधारा में वाणिज्य व व्यापार को प्रधानता प्राप्त थी। यह विचार धारा सोलहवीं शताब्दी से अट्ठारहवीं शताब्दी तक यूरोप में प्रचलित थी। यूरोप में धार्मिक सुधारवाद का जोर सोलहवीं शताब्दी में उठा। इस धार्मिक सुधारवाद से वणिकवाद प्रभावित हुआ। सामंतवादी व्यवस्था के ह्रास अथवा अंत के फलस्वरूप वणिकवाद उठ खड़ा हुआ। स्पष्ट है कि इस आर्थिक विचारधारा ने राजनीतिक व धर्मनीति को प्रभावित किया था। अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में फ्रांस के विचारकों ने जिस आर्थिक सिद्धान्त को अग्रसारित किया, उसे प्रकृतिवाद के नाम से संबोधित किया गया। इस विचार धारा का आधार है कि समाज में प्राकृतिक नियम होते हैं। विद्वानों का मत रहा है कि प्राकृतिक नियमों का पालन होना चाहिए। इन विद्वानों ने प्रतिपादित किया था कि मनुष्य प्रकृति के नियमों का पालन करके ही सुखी व सम्पन्न हो सकता है। प्रकृतिवादियों के अनुसार कृषि उत्तम कार्य है। वे सामाजिक व्यवस्था को प्राकृतिक व्यवस्था के अनुरूप मानते थे।[****] कतिपय विद्वान प्रकृतिवाद को वणिकवाद के प्रतिक्रिया स्वरूप स्वीकार किये हैं।

प्रकृतिवादी विद्वानों में रिचर्ड केंटिलन का नाम शीर्ष पर है। उन्होंने बताया ''जो जीवन में सुविधा और आराम प्रदाता हैः ऐसी वस्तु को धन कहते हैं।'' उन्होंने आगे कहा कि भूमि से ही धन प्राप्त होता है। धन निकालने वाले श्रमिक होते हैं। अतः भूमि और श्रम की महत्ता है। प्रकृतिवादियों ने धन परिभ्रमणा सिद्धान्त को स्थापित किया था। यूरोप में प्रकृतिवादी अर्थशास्त्री लगभग एक सौ वर्षों तक प्रभावी रहे। इनके बाद प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का युग प्रारंभ हुआ। इस युग के संस्थापक एडम स्मिथ माने जाते हैं। एडम स्मिथ मौलिक विचारक थे। एडम स्मिथ के उत्कर्ष काल में वाष्प इंजन का आविष्कार हो चुका था। वह औद्योगिक क्रान्ति का प्रथम चरण था। इस के साथ ही कृषि क्रान्ति के आगाज के प्रभाव परिलक्षित होने लगे थे। कल्पनातीत परिवर्तन उपस्थित होने लगे।

नित्यप्रति तीव्र परिवर्तनों के कारण एक तरफ अर्थशास्त्र में विज्ञान और दूसरी तरफ इसके प्रतिलोभ के रूप में समाजवाद का जन्म हुआ। इस विज्ञान के विकास के चार मुख्य स्तंभ हैं। एडम स्मिथ ने 1776 ई में ''वेल्थ आफ नेशन्स'' नाम ग्रन्थ की रचना की और धन के कारकों की खोज प्रस्तुत की। औद्योगिक छूट की वकालत की। माल्थस की पुस्तक जनसंख्या पर थी। यह 1798 ई0 में प्रकाशित हुई। 1817 ई0 में रिकार्डो की पुस्तक करारोपण पर प्रकाशित हुई। धन के वितरण पर रिकार्डो का ध्यान था। 1848 ई0 में जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक के द्वारा उत्पादन और वितरण के अन्तर–संबन्धों पर प्रकाश डाला। उस समय के ये उपर्युक्त चार अर्थशास्त्री थे। 1848 ई0 में ही इनके एंटीथीसिस के रूप में कार्लमार्क्स की वैज्ञानिक समाजवाद की घोषणा हुयी। वैज्ञानिक अर्थशास्त्र और वैज्ञानिक समाजवाद का पश्चिमी जगत का कारवाँ फैलते–फैलते आज विश्व व्यापार संगठन (डब्लू0टी0ओ0) के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। डब्लू0टी0ओ0 की उत्पत्ति द्वितीय महायुद्ध की विषम परिस्थितियों की देन है।

द्वितीय महायुद्ध में एक तरफ मित्र देश (एलाइड पावर्स) थे। इन मित्रों के संगठन में धुर पूंजीवादी और धुर साम्यवादी शक्तियां शामिल थीं। दूसरी तरफ जर्मनी, इटली व जापान की तानाशाह शक्तियां थीं। जीत

[****] हेनेः 'हिस्ट्री आफ इकोनामिक थाट' पृष्ठ 172

मित्र देशों की हुयी। विश्व को मानवाधिकार और डब्लू0टी0ओ0 प्राप्त हुआ। उस समय रूस व अन्य देशों में साम्यवादी व्यवस्था थी। आर्थिक संघर्षों के चलते'–चलते सोवियत संघ का पतन हुआ, लेकिन मित्र देशों के खेमे में चीन माओवादी साम्यवाद में परिवर्तित हो गया। इन परिवर्तनों के बावजूद डब्लू0टी0ओ0 का अस्तित्व विकसित होता गया। चीन के माओवाद ने तिब्बत की स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया और दुनियां की अर्थनीति में हिंसा को बढ़ावा दिया। भारत में इसी हिंसा को नक्सलवाद कहते हैं। वर्तमान विश्व संयुक्त राष्ट्र संघ और डब्लू0टी0ओ0 से अनुप्रेरित है। ये वस्तुतः दोनों संस्थायें राजनीतिकशक्ति और आर्थिकशक्ति की वैश्विक प्रतीक हैं। आर्थिकशक्ति वस्तुतः मूलशक्ति होती है। महाभारत में भीष्म ने यही कहा था और वर्तमान युग में कार्ल मार्क्स ने यही प्रतिपादित किया था। मार्क्स पूर्णतः धर्मविहीन था। इस कारण उसकी स्थापना अल्पजीवी हुयी। पूंजीवाद सृजित कींस की अर्थनीति ने वैश्विक स्तर पर बदलाव उपस्थित कर दिया। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने पूरब और पश्चिम के सभी विचारों का अध्ययन किया था।

कींसीयन आर्थिक विकास माडल में विचलन तथा एकात्म मानववाद

द्वितीय विश्व महायुद्ध के समय सम्पूर्ण विश्व में युद्ध जनित तबाही थी। इसके पूर्व विश्व महामंदी और व्यापक बेरोजगारी की चपेट में था। अर्थशास्त्र की क्लासिकल और मार्शल आदि की नीतियों से कींस का प्रादुर्भाव हुआ। कींस ने बेरोजगारी और मंदी के निवारण का आर्थिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया। सम्पूर्ण विश्व में नयी आशा संचालित हुयी। कींस कालांतर में लार्ड कींस की उपाधि से विभूषित हुए। कींस ने बताया कि बेरोजगारी को दूर करने के लिए सरकारों को मुट्ठी खोल कर परियोजनाओं का संचालन करना चाहिए। ज्ञात है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में जे0बी0 से का नियम लागू रहता था। जे0बी0 से ने कहाः ''पूर्ति मांग को उत्पन्न करती है।'' लार्ड कींस ने कहा ''मांग पूर्ति को उत्पन्न करती है।'' प्रचलित अर्थनीति में लार्ड कींस ने एकदम 180 डिग्री का परिवर्तन उपस्थित कर दिया। पूंजीवादी और साम्यवादी क्षेत्रों में तहलका मच गया। लार्ड कींस की ख्याति से प्रभावित होकर अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कींस को आमंत्रित किया। कींस ने राष्ट्रपति को बतलाया कि नागरिकों की बढ़ी हुई क्रयशक्ति से पूर्ति पक्ष में बढ़ोत्तरी होगी और मंदी का निराकरण होगा। कींस के सुझाव का असर तत्काल रूजवेल्ट पर नहीं पड़ा। कींस की दूसरी भेंट में रूजवेल्ट पर असर पड़ा। उन्होंने अपने सैनिक व्यय में बहुत बढ़ात्तरी की। इस बढ़ोत्तरी में अमेरिकी कम्पनियों को पर्याप्त धन उपलब्ध हुआ। सैनिक सामानों के उत्पादन में अकल्पित बढ़ोत्तरी हुई। मंदी और बेजरोजगारी का तत्काल समापन हुआ। इस नीति के अनुपालन से संयुक्त राज्य अमेरिका ने दुनिया भर में अपने 400 से अधिक सैनिक ठिकानों को स्थापित किया।

वस्तुतः यह परिस्थिति कींस की नीतियों में विचलन के कारण उत्पन्न हुई। उल्लेख्य है कि असैनिक व्यय और सैनिक व्यय के परिणामों में व्यापक अंतर होता है। अमेरिका ने कींस के व्यय को सैनिक व्यय से जोड़ दिया। सैनिक व्यय में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। सम्पूर्ण विश्व के विभिन्न क्षेत्रों पर अमेरिका ने 400 से अधिक सैनिक केन्द्रों की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। संयुक्त राज्य अमेरिका के इस कदम से कींसियन अर्थशास्त्र का नकारात्मक स्वरूप प्रकट हुआ। इसे कींसियन अर्थशास्त्र का विचलन कहते हैं। वर्णन प्राप्त होता है कि कींस का अर्थशास्त्र इतना प्रभावशाली ढंग से प्रारम्भ हुआ कि मार्क्स की विचार धारा कुंठित हो गयी। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र कींस की नीतियों के कारण अप्रतिष्ठित हुआ।

अब प्रश्न उठता है। कींस की विचार धारा का उद्गम कहां से है? कतिपय विद्वान जर्मन दार्शनिक हीगल से इसे जोड़ते हैं। इस लेख के लेखक को वर्ष 1960 ई0 में इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली ''माया'' नामक पत्रिका के संपादक ने बताया था कि कींस को कींसियन अर्थशास्त्र का स्पष्ट संकेत लखनऊ में प्राप्त हुआ। उन्होंने सड़क पर काम करते हुए मजदूरों से पूछा कि उन्हें रोजगार कहां से प्राप्त हो रहा है? मजदूरों ने उत्तर दिया– ''जिन्हें न दे मौला, उसे दे आशफउद्दौला''। आशफउद्दौला लखनऊ का नवाब था। बड़े–बड़े इमामवाड़े बन रहे थे। श्रमिकों में बेरोजगारी नहीं थी। श्रमिको के उत्तर की प्रतिध्वनि कींस की विचार

धारा पर प्रतिध्वनित हुई। कींस ने मनन किया कि राज्य को देश हित में अपने कोषागार को खोल देना चाहिए। वणिकवाद व प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रवाद से कींस का चिंतन आगे बढ़ गया। कींस की स्पष्ट विचारधारा थी कि राज्य को नागरिकों से लेने की ही तरह राज्य को नागरिकों को देना भी चाहिए। भारतीय प्राचीन मत में राज्य पृथ्वी पर ईश्वर की प्रतिछाया है। जर्मन दार्शनिक हीगल का भी यही मत था।

अपरा के निरंतर प्रवाह के कारण परा का निर्माण होता रहता है। भारतीय धर्म में दान–धारा की मान्यता है। इस्लाम में जकात है। काशी की मां अन्नपूर्णा किसी को भूखा नहीं रहने देती हैं। स्पष्ट है कि हिन्दू धर्मावलम्बी को दान–धारा का पालन करना चाहिए। इस्लाम मतावलम्बी को जकात का अनुपालन करना चाहिए। राज्य को व्यय बढ़ा कर बेरोजगारी के उन्मूलन कार्य को पूरा करना चाहिए। कींस की विचारधारा पर इन तमाम प्रभावों को देखा जा सकता है। बेरोजगारी उन्मूलन और क्रयशक्ति की अभिवृद्धि के कार्य के साथ मानवीय स्वतंत्रता को प्रदान करने वाला राज्य वस्तुतः धर्म राज्य होता है। इसमें मानवीय मूल्यों की अभिवृद्धि होती है और नागरिकों के हृदय में ईश्वरीय राज्य की अनुभूति प्रतिष्ठित होती है। पश्चिम के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एफ0ए0 कायेक ने ''रोड टू सर्फडम'' नामक पुस्तक में उन परिस्थितियों का वर्णन करते हुए विकास के मार्क्सवादी माडल की उन कमियों को बतलाया है, जिनके कारण नागरिकों को नारकीय अनुभूतियों से गुजरना पड़ता है।

उपाध्याय जी के सम्मुख आर्थिक विकास व मानव एकात्मवाद के संदर्भ में वैश्विक विवरण था। प्रचीन विवरण व नवीन विवरण दोनों के दोनों हस्तमलक थे। धर्म उनका आधार था। भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था और पंचवर्षीय योजनाओं की दौड़ चल रही थी। एक तरफ उत्थान के कार्य चल रहे थे तो दूसरी तरफ पतन के कार्य भी जोरों पर थे। नक्सल आन्दोलन मजबूती के साथ प्रारंभ हो चुका था। विनोवा जी ने भूदान आन्दोलन खड़ा किया। भूदान आन्दोलन तो भू–लुंठित हो गया, लेकिन नक्सल आन्दोलन बढ़ता चला गया। वर्तमान में यह भारतीय शरीर पर कैंसर सदृश्य है। उपाध्याय जी की दृष्टि सम्पूर्ण घटनाओं के ऊपर थी। इस कृषि प्रधान देश की अभिवृद्धि हेतु उन्होंने अपनी पार्टी से घोषित करवाया। हर खेत को पानी और हर हाथ को काम।'' इस उद्घोषणा में पूर्ण रोजगार और पूर्ण उत्पादन का संदेश वास्तविकता के साथ सन्निहित रहा है। यदि कींस की अर्थनीति में ईसा की ईसाइयत (योरप व अमेरिका की ईसाइयत नहीं) को जोड़ दिया जाय तो वह पं0 दीन दयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद के नजदीक पहुंच जायेगी। पृथ्वी पर स्वर्ग उतर सकता है तथा प्रो0 जे0के0 मेहता का यह कथन कि गरीबी सामाजिक अवरोध (सोशल फ्रिक्सन) उसे दूर करने का मार्ग प्रशस्त हो जायगा। कींस ने कहा ''क्रयशक्ति बढ़ाने से मांग में वृद्धि होगी तथा बढ़ी मांग से पूर्ति बढ़ेगी। उत्पादन वृद्धि से रोजगार सृजित होंगे। यह चक्र यदि चलता रहेगा तो खुशहाली उत्पन्न होगी।''

पं0 दीन दयाल उपाध्याय जी ने उपनिषद काल, कौटिल्य काल व भारत के पुनर्जागरण काल की आर्थिक व धार्मिक नीतियों का सूक्ष्माति–सूक्ष्म अवलोकन किया था। धर्म को वे सर्वोपरि मानते थे। उन्हें ज्ञात था कि भगवान के विराट रूप का साक्षात दर्शन अर्जुन ने किया था, लेकिन धर्म रूप युधिष्ठिर ही सशरीर स्वर्ग गये। अर्जुन नहीं जा सके। धर्म सर्वोपरि है। वही परमेश्वर रूप है। यह दृष्टि इन वैज्ञानिकों की नहीं है। उपाध्याय जी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म की प्रतिष्ठा के आकांक्षी थे। एक आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। उस आत्मा की एकात्मता से मानव जीवन में अभाव को स्थान प्राप्त नहीं होगा। परा–अपरा में सुसंबन्ध रहेगा। प्रकृति में बैराग्य नहीं होगा। प्रदूषण की समस्यायें उपस्थित नहीं होगी। ''सर्वे भवन्तु सुखिनः'' का माहौल कायम होगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उपाध्याय जी ने बतलाया कि राष्ट्र को मजबूत करना होगा एवं आदर्श के क्षेत्र में शक्ति प्रतीक दुर्गा, धर्मप्रतीक राम, एवं शासक प्रतीक रघु तथा करुणा प्रतीक सिद्धार्थ को सतत स्मरण में रखना होगा।

एकात्म मानववाद के दर्शन को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने के संबन्ध में उपाध्याय जी ने आर्थिक विकास के माडल पर विशेष ध्यान दिया। कृषि प्रधान देश भारत में पूर्ण सिंचाई की व्यवस्था तथा प्रत्येक सक्षम

को रोजगार प्रदान करने पर जोर दिया। पं0 दीन दयाल उपाध्याय जी औद्योगिक क्रान्ति के युग में पैदा हुये थे। इस कारण भी औद्योगिक उत्पादन के विकास के पक्षधर थे। राष्ट्रवादी होने के कारण स्वदेशीकरण के पैरवीकार थे। इनके वैचारिक मॉडल में भारत का अतीत, वर्तमान व भविष्य समाहित है।

******

"एकात्म मानववाद के विशेष संदर्भ में आर्थिक विकास"

राजर्षि भड़[*]
कुमारी कमलिका भड़[†]

पं॰ दीनदयाल उपाध्याय जी का "एकात्म मानववाद" हमेशा से ही एक गंभीर चिंतन का विषय रहा है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इसमें ऐसा क्या है जो हमें बार–बार इन दो शब्दों के बारे में सोचने को विवश करता है? इन शब्दों का मूल तात्पर्य है – मानव एवं संपूर्ण जगत के हित और शांति की भावना के साथ समाज का कल्याण करते हुए चलना। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मनुष्य यदि अपने अंदर समाई हुई शक्ति को जान ले और स्वीकारे तो जगत हित एवं कल्याण का मार्ग उसके लिए अत्यंत सरल हो जाता है। उस व्यक्ति के लिए "वसुधैव कुटुम्बकम्" हो जाता है। अपने कर्मों को अपने, परिवार, समाज, देश तथा समष्टि के उत्कर्ष के लिए समर्पित करता है। गीता में श्रीकृष्ण की वाणी "मा फलेषु कदाचन" सच होने लगती है। इसका प्रभाव समग्र विश्व में विकास का ध्वज फहरा देता है। बिना फल के आशा रखने वाला मनुष्य समग्र समष्टि के उत्कर्ष का कारण बन जाता है। निष्काम कर्मयोग के आधार पर हम एक चरम आर्थिक विकास की ओर चल पड़ते हैं। यह चलना शुरू हुआ पृथु से, फिर मर्यादापुरूषोत्तम श्रीराम के पदचिन्ह को अनुसरण करते हुए निष्काम योगी हनुमानजी से अनुप्रेरणा लेते हुए हम आज भी चल रहे हैं। गीता में निहित निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग का समन्वय हमारे जीवन के उद्देश्य तथा उसके सर्वांगीण विकास की ओर हमें ले चलता है। पं॰ दीनदयाल जी का "एकात्म मानववाद" इस प्रसंग में उल्लेखनीय है और "एकात्म मानववाद के विशेष संदर्भ में आर्थिक विकास" इसका एक अविच्छेद्य अंग।

उत्पादन प्रक्रिया :

भारतवर्ष के पुरातन ग्रन्थों में जो भी हमें दिखता है उन सब में "एकात्म मानववाद" ही प्रतिफलित होता है। धरती माता से जब दानवों का अत्याचार–शोषण सहन न हुआ तब उन्होंने गाय का रूप लेकर भागने की कोशिश की, तब स्वयं नारायण ने राजा पृथु का रूप ले कर धरती को शोषण से मुक्त कर दोहन तक ही सीमित किया। कृतज्ञ धरतीमाता ने अपना नाम पृथ्वी (=पृथु की कन्या) कर लिया। तब से हमारे पूर्वज पृथ्वी को माता के रूप में देखते हैं। अब यह हमारा उत्तरदायित्व है कि हम इन परम्पराओं का पालन करें और आगे ले कर चलें।

पुराणों में हम देखते हैं कि राजा, ऋषियों को पर्याप्त गाय भेंट करते थे और गाय के दूध से उन्हें पोषण तथा गोबर से उन्हें ऊर्जा प्राप्त होती थी अर्थात जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं उन्हें राजा द्वारा प्राप्त होती थीं। वे अपने पठन–पाठन, पूजा, यज्ञ, शिक्षा दान में ही व्यस्त रहते थे और प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में समाज के विकास कार्य में आत्मनिवेदन करते थे। राजा उनके भरण पोषण का दायित्व खुद लेते थे एवं प्रकृति की सम्पदा की रक्षा करते हुए जीवन धारण करने के लिए अनुप्रेरित करते थे। "एकात्म मानववाद" का प्रतिफलन हमें यहां देखने को मिलता है। राजा जनक को खुद हल चलाते हुए देख सकते हैं। उपहारस्वरूप धरतीमाता ने अपनी पुत्री सीताजी को भेंट किया। सीताजी लक्ष्मी स्वरूपा हैं। इसके उपरान्त राजा जनक के राज्य मिथिला में कभी किसी द्रव्य की कमी महसूस नहीं हुई। राजा धरती का सम्मान करते थे। इसका शोषण नहीं बल्कि दोहन करते थे। इसलिए हमारे देश के राजर्षियों में सबसे पहला स्थान है राजर्षि जनक का।

[*] बी.टेक. (सिविल) तृतीय वर्ष, एन.आई.टी. हमीरपुर, हि.प्र.
[†] कक्षा XI, डी.ए.वी. पब्लिक स्कूल, पालमपुरए हिमाचल प्रदेश।
email: kbkamalika@gmail.com

आज के संदर्भ में सोचें कि हम कितना उर्वरक पर निर्भर होते जा रहे हैं। क्यों हम अपने ऋषि–मुनियों की बातें भूल गये? इसका नतीजा भी तो सामने आ रहा है। जमीन बंजर होती जा रही है। महंगी उर्वरक की जगह जैविक खाद के प्रयोग हमारे अर्थसम्पदा की रक्षा तथा वृद्धि करते हैं। गाय तथा अन्य जानवरों का गोबर, सब्जी के छिलके हम क्यों कृषिकार्य में इस्तेमाल नहीं करते? कृत्रिम कीटनाशकों के स्थान पर नीम के पत्ते अधिक उपयोगी सिद्ध हो चुके हैं।

आर्थिक विकास का स्वदेशी मॉडल जरूरी

आज हम पाश्चात्य का अन्धानुकरण तो नहीं कर रहे हैं? बाजार में चमचमाते हुए विज्ञापनों में दर्शायी गई सामग्री क्या सच में हमारे लिए अनिवार्य है? मैगी, डिओ, चिप्स, ठंडा पानी, तरह–तरह के प्रसाधन तथा खाने की सामग्री, महंगे कपड़े, महंगी गाड़ियां, कम्पयूटर, टी.वी. रेफ्रिजरेटर – ऐसी कितनी ही सामग्री हमारे लिए अपरिहार्य अंग बन चुकी हैं। विज्ञापनदाता युवा पीढ़ी को ध्यान में रखते हुए ये वैश्विक चालें चलते रहते हैं। अब हमें लौट के देखना है – स्वाधीनता के बाद, 'रोटी, कपड़ा और मकान' यह हमारी प्राथमिकताएं।

हमें आज भटकना नहीं बल्कि सोचना चाहिए तथा सही दिशा में चलना चाहिए। प्रयोजन के अनुसार सामान यह निश्चित करना चाहिए नहीं तो पश्चिमी देश लुटेरा बन कर फिर से हमें खोखला कर देंगे। हमें पूर्वजों के निर्देशित किए हुए पथ पर चलना चाहिए, क्योंकि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावह"।

प्रकृति सर्वोपरि

आर्थिक विकास और उत्पादन अगांगी हैं। उत्पादन का सम्बन्ध है प्राकृतिक संसाधनों से, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हम बिना सोचे समझे प्राकृतिक संसाधनों का इस्तेमाल करें। ऐसे में तो हम एक दिन समाप्ति के कगार पर खड़े होंगे और फिर हम दूसरे की ओर हाथ फैला देंगे। हमें स्वीकारना चाहिए कि प्रकृति की सम्पदा, अपार होने पर भी उसकी मर्यादा है। यदि हम अपनी असीमित चाहत के लिए उसका व्यवहार करेंगे तो एक दिन हमें पछताना पड़ेगा। कोयले का भंडार असीमित नहीं, अपितु सीमित है। पैट्रोलियम, वनज सम्पदा, जल, वायु, सभी के लिए यह प्रयोज्य है। बुद्धिमानी इसी में है कि हम कम से कम प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग करके उससे ज्यादा से ज्यादा उत्पादन करें। तभी प्रकृति के सामंजस्य को बनाये रख सकेंगे और सर्वांगीण विकास भी कर सकेंगे। प्रकृति की रक्षा करना हमारा पावन कर्तव्य है। अग्निपुराण के अनुसार "घर के दक्षिण में आम, उत्तर में पाकड़, पूर्व में बरगद और पश्चिम में पीपल का पेड़ स्वास्थ्य के लिए अच्छे माने जाते हैं। महाभारत के अनुसार – "जो मनुष्य वृक्ष काटता है तथा नदियों को प्रदूषित करता है, वह आत्मघाती होता है। इस तरह हमारे पूर्वजों ने पथ निर्देश किये हैं।

निःशुल्क शिक्षा :

बच्चे समाज की धरोहर हैं। आगे उनके हाथों में ही समाज का दायित्व आने वाला है। इसलिए उनकी शिक्षा का पूर्ण दायित्व समाज का होना चाहिए। पहले गुरूकुलों में रहना व भोजन की व्यवस्था निःशुल्क थी। राजा तथा समग्र समाज आश्रम के दायित्व निभाते थे। हमें ऐसी उच्चकोटि की शिक्षा व्यवस्था पुनः स्थापित करने के लिए योजना बनानी चाहिए। शिक्षा उच्च स्तरीय होने पर ही सामाजिक और उसका आर्थिक विकास सम्भव होगा।

पूंजी का स्त्रोत :

आजकल पूंजी के लिए हम हाथ फैलाते हैं। कर्ज के रूप में लिया गया धन सूद समेत वापस करना एक बड़ी जिम्मेदारी बनता जा रहा है। हमारे देश की परम्परा के अनुसार पूंजी निर्माण के लिए उत्पादन का अंश बचाया जाये और उसे भावी उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाये। इसके लिए हमें सादी तथा संयमित

जीवनशैली अपनानी होगी। जीवनधारण में उतना ही धन प्रयोग में लाएं ताकि जीवनयात्रा का भी निर्वाह हो और पूंजी का बोझ कर्ज के रूप में हमें खोखला न कर सके।

प्रद्योगिकी का महत्व

आर्थिक विकास बिना प्रद्योगिकी के असंभव है। विज्ञान की सहायता से प्रद्योगिकी के माध्यम से हम उत्पादन प्रयोजनानुसार बढ़ा सकते हैं, लेकिन इसका गलत इस्तेमाल न हो, यह देखना भी हमारी ही जिम्मेदारी है। हमारे सांस्कृतिक एवं राजनीतिक मूल्य को बरकरार रखते हुए प्रद्योगिकी की सहायता लेकर हमें आगे चलना चाहिए। अन्यथा हमारा आर्थिक विकास स्थायी होना मुश्किल दिखता है।

चतुराश्रम के महात्म्य :

चतुराश्रम यानि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संयास भारतीय समाज का आधार है। ब्रह्मचर्य आश्रम में हम एकाग्रचित्त हो कर गुरू के आदेशानुसार शिक्षा ग्रहण करते हुए जीवन–यापन करते थे। "छात्रानाम् अध्ययनं तपः" उनके जीवन का मूलमंत्र होता था। गृहस्थाश्रम में संसार धर्म निर्वाह करना तथा आगामी प्रजन्म के लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न करके वानप्रस्थ लेने का उपदेश दिया गया।

वानप्रस्थ में संतति की देखभाल के साथ ही अपने परिपक्व विचार से अपने समाज का उन्नति साधन ही काम्य होता था। अंत में सन्यास अर्थात संसार त्याग करके तपस्वी जीवन यापन करना तथा प्रकृति के प्रति यत्नवान होना ही स्वाभाविक था। हर तरह जीवन के हर पड़ाव में हमें यह शिक्षा दी जाती है कि अपना कर्तव्य निरंतर करो। यह ही आपका तथा समग्र समाज का स्थायी विकास लायेगा। पं॰ दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद हमें यही शिक्षा देता है।

आदर्श आर्थिक विकास के पथ :

हम सामाजिक प्राणी हैं। समाज, देश तथा समष्टि के अंग हैं। अतः समाज, देश तथा समष्टि के आदर्श आर्थिक विकास का उत्तरदायित्व हम पर ही आता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न करना हमारा कर्तव्य है कि समाज के सभी मनुष्य अंततः न्यूनतम जीवनशैली अपनाएं। इसके बाद उनकी आर्थिक स्थिति का उत्तरोत्तर वृद्धि सम्भव हो सकेगी। इससे नया विकास दौड़ पड़ेगा। सादगीपूर्ण जीवन यात्रा निर्वाह करने वाला समाज प्रद्योगिकी, पूंजी तथा अपनी संस्कृति के बल पर एक स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण कर पायेगा, जो आर्थिक विकास में सशक्त भूमिका निभायेगा। पर्यावरण का संरक्षण करते हुए शिक्षा, संस्कारों के बल पर जो आर्थिक विकास का रास्ता हम देख रहे हैं यह एक निरंतर प्रक्रिया है।

संदर्भ ग्रन्थ

1) सीता रामायण –देवदत्त पटनायक (पेंगुइन वुक्स)
2) महाभारत – गीताप्रेस, गोरक्षपुर
3) अग्निपुराण
4) "एकात्म मानववाद" का प्रयोग ए.इ.सि. (अन्नपूर्णा एजूकेशन सेंटर), पालमपुर हिमाचल प्रदेश की दो ग्राम पंचायतों (वृंदावन एवं घुग्गर) तथा पालमपुर शहर के उन्नयनमूलक कार्य में सफलतापूर्वक भागीदारी दे रहा है। इसका नेतृत्व कर रहे हैं। डॉ॰ रासबिहारी भड़, (प्रधान वैज्ञानिक, आई.वी.आर. आई.) की विशेष प्रेरणा से ही यह निबन्ध लिखा गया हैं।
5) एकात्म मानववाद – पं॰ दीनदयाल उपाध्याय, जागृति प्रकाशन, नोएडा –201301

******

'एकात्म मानववाद' से 'प्रतिष्ठापूर्ण विकास'

अजीत प्रताप सिंह[‡]

सारांश

प्रस्तुत लेख में वर्तमान समय में देश में व्याप्त बेरोजगारी, मंहगाई और खाद्यान समस्या के महत्वपूर्ण मुद्दों के समाधान के साथ देश के विकास में अति उपभोगवाद, समाजवाद(सरकारी हस्तक्षेप), पूँजीवाद, टूटती वर्ण व्यवस्था, शिक्षा का व्यवसायीकरण, वीभत्स स्थिति में सामाजिक और नैतिक संस्कृति के कुप्रभाव को दूर करने के लिए ही पं॰ दीनदयाल उपाध्याय जी के अर्थायाम के माध्यम से समाज में एकात्म मानववाद को स्थापित करने का प्रयास किया गया है। यह मानवतावाद मनुष्य और मनुष्य के मध्य ही नहीं, मनुष्य का समस्त चराचर जगत के साथ मानवता और आत्मीयतापूर्ण संबंधों को स्थापित करने के साथ ही सनातन संस्कृति/हिन्दू संस्कृति के मूल ध्येय "सर्वे भवन्तु सुखिनः" तक पहुँचने का एक महत्वपूर्ण मार्ग है।

''दारिद्रयान्मरणाद्व मरणं मम रोचते न दारिद्रयम्।

अल्पक्लेशं मरणं दारिद्रथमनन्तकं दुःखम्।।

दारिद्रयादध्रियेति ह्रीयरिगतः प्रम्रश्यते तेजसो

निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमायद्यते।

निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्धया परित्याज्यते

निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निर्धनता सर्वापदामास्सयदम्।।''

शूद्रक ने मृच्छकटिकम् में चारूदत्त के मुख से कहलाया है कि ''मृत्यु एवं अर्थहीनता या दरिद्रता दोनों में से दरिद्रता की अपेक्षा मुझे मृत्यु रूचिकर प्रतीत होती है, क्योंकि मृत्यु मनुष्य को एक बार कष्ट देती है, किन्तु यह दरिद्रता तो आजीवन दुख भोगने को विवश कर देती है, क्योंकि दरिद्रता के कारण समाज में सम्मान में ह्रास होता है जिससे व्यक्ति का सामर्थ्य घट जाता है। असमर्थ व्यक्ति तिरस्कृत होता है। तिरस्कार से विरक्ति तथा विरक्ति से विवेक नष्ट हो जाता है। अविवेकी ज्ञान शून्य हो जाता है और निर्बुद्वि विनाश का कारण बन जाता है। इस प्रकार समस्त विपत्तियों की जड़ यही अर्थहीनता है। यह अर्थाभाव के कारण के परिणामों की व्याख्या करता है।

कैसा देश हो ? कैसा समाज हो ? सार्वजनिक जीवन में धर्म की भूमिका क्या हो ? भारत की सांस्कृतिक विरासत को कैसे देखें–परखें ? इन सवालों का जितना सम्बन्ध अतीत और वर्तमान से है उससे कहीं ज्यादा है, भविष्य से। इन सवालों का जवाब है पं॰ दीनदयाल उपाध्याय जी का 'एकात्म मानववाद'।

'एकात्म मानववाद' जहाँ वर्तमान भारतीय समाज का पथ प्रर्दशक है, वहीं भारतीय संस्कृति का प्राण है। 'एकात्म मानववाद' के अनुसार मनुष्य के सम्बंधों का आधार मानवता और आत्मीयता है। दीनदयाल जी के अनुसार भारत का विकास अर्थ एवं उपभोग के आधार पर नहीं हो सकता। यह विकास का मार्ग भी मानवता एवं आत्मीयता पर ही आधारित होगा और यही भारतीय संस्कृति के अनुकूल भी है। उन्होने अपने एकात्म मानव दर्शन में कहा है कि **''संसार में एकता का दर्शन कर, उसके विविध रूपों के बीच पूरकता को पहचान कर, उनमें परस्परानुकूलता का विकास करना तथा उसका संस्कार करना ही संस्कृति है। प्रकृति को ध्येय की सिद्धि**

[‡] शोध छात्र, अर्थशास्त्र विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, Email-ajeetpsc@gmail.com

के अनुकूल बनाना संस्कृति तथा उसके प्रतिकूल बनाना विकृति है। संस्कृति प्रकृति की अवहेलना नहीं करती, उसकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं करती, बल्कि प्रकृति में जो भाव सृष्टि की धारणा करने वाले तथा उसको अधिक सुखमय एवं हितकर बनाने वाले हैं उनको बढावा देकर दूसरी प्रकृतियों की बाधा को रोकना ही संस्कृति है।" वर्तमान भारत में व्याप्त बेरोजगारी, मंहगाई, किसानों की आत्महत्याएं, गरीबी, खाद्यान्नों का अभाव, श्रमिकों का असंतोष आदि के उत्पन्न होने का प्रमुख कारण संस्कृति के प्रतिकूल जाना है।

किसी राष्ट्र की संस्कृति का अत्यधिक महत्व होता है। यह संस्कृति उस राष्ट्र की भौगोलिक, सामाजिक प्रकृति के अनुकूल होती है। यह संस्कृति उस राष्ट्र में लम्बे समय से घटित हो रहे घटनाक्रम की वैज्ञानिकता का प्रमाण होती है। संस्कृति एक लम्बे समय के शोधन का परिणाम है और यह प्रक्रिया लगातार चलती रहती है। इसलिए जब समाज में कोई समस्या आती है, तो संस्कृति के मानकों का मूल्यांकन किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं होता है कि यदि समाज में कोई समस्या उत्पन्न हो जाये तो उसके निदान के लिए संस्कृति के अस्तित्व को नकार दिया जाये। किसी राष्ट्र की संस्कृति उस राष्ट्र की जीवन धारा होती है, जिसके रास्ते से चल कर समस्त चराचर जगत का विकास सम्भव है। यदि हम किसी अन्य राष्ट्र की संस्कृति का अनुसरण करते हैं तो यह वही घटना होगी कि रोगी जिस रोग से पीड़ित है उस रोग की दवा न करके किसी अन्य रोग की दवा करना। इसके दो प्रभाव होंगे पहला, उस संस्कृति से देश की समस्या का निदान नहीं होगा समस्या यथावत बनी रहेगी। दूसरा, अन्य संस्कृति के कुप्रभाव राष्ट्र पर पड़ेंगे, क्योंकि यह संस्कृति जिस राष्ट्र की है उनके अनुकूल हो सकती है हमारे राष्ट्र के भौगोलिक, सामाजिक प्रकृति के अनुकूल नहीं होगी। संस्कृति में समयानुसार शोधन हो सकता है। परन्तु दूसरी संस्कृति को आत्मसात नहीं किया जा सकता है।

जैसे भारत में समस्त ग्रामीण सामाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती थी। गाँवों की भूमि व प्राकृतिक संसाधन की क्षमता अनुसार समस्त चराचर जगत आपसी सहयोग से अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने में सक्षम थे। मनुष्य, पशु व प्रकृति के बीच मानवता के आधार पर एकात्मकता थी। मनुष्य, मनुष्य की आवश्यकता व अपनी योग्यता अनुसार सहयोग करते थे। उदाहरण स्वरूप यदि किसी परिवार में लड़के या लड़की का विवाह संस्कार सम्पन्न होता था तो गाँव का व्यक्ति आत्मीयता और मानवता के कारण अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार सहयोग करते थे। गाँव में जिसके खेत में सब्जियाँ थीं उसने सब्जी दे दी, अनाज वाले ने अनाज, बढ़ई ने लकड़ी की आवश्यकता पूर्ति की तो नाई, कहार, कुम्हार आदि भी अपनी क्षमता के अनुसार सहयोग देते थे। गाँव में ही बरात के स्वागत के लिए चारपाई, बर्तन, ईंधन या मानवीय सहयोग आदि की व्यवस्था हो जाती थी और परिवार के लोगों को विवाह संस्कार सम्पन्न करने में किसी प्रकार के अभाव का अहसास नहीं होता था। धनवान और निर्धन दोनों की आवश्यकता की पूर्ति गाँव में ही हो जाती थी व मुद्रा महत्वहीन थी। मानवता ही समस्त गाँव की एकात्मकता का आधार थी। लोग त्यागभाव से अपने धर्म का निर्वाह करते थे और धर्म के निर्वाह में आनन्द की अनुभूति करते थे। हमारे लक्ष्य प्रसन्नता और आन्नद थे अति उपभोगवाद नहीं और प्रसन्नता ही उनके विकास की आधार थी।

परन्तु लम्बे समय में गुलामी के प्रभाव में मनुष्य–मनुष्य के बीच साधनों की अल्पता आ गयी, क्योंकि गाँव के जमींदार और अंग्रेज शासक ने गाँव का उत्पादन व साधन शोषित कर दूसरे देश में भेज देते थे या ये शोषणकर्ता गाँव की आवश्यकता के विपरीत व्यापारिक उद्देश्य से खेती करवाने लगे। इससे ग्रामीण समाज में दो प्रभाव पड़ा पहला, जो उत्पादन गाँव में हो रहा था वह ग्रामवासियों के उपयोग योग्य नहीं रहा। दूसरा, ग्रामीण समाज अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अन्य पर निर्भर हो गया। शोषण के प्रभाव में आकर गाँव में आवश्यक साधन व उत्पादन में कमी हुई और आवश्यकता की पूर्ति के लिए मुद्रा की आवश्यकता बढ़ी। मुद्रा के प्रभाव में आने से समाज में मानवता पर कुप्रभाव पड़ा। फिर पाश्चात्य संस्कृति के साथ आवश्यकता और मुद्रा का ऐसा सम्बंध चला कि मनुष्य के जीवन का आधार व आवश्यकता ही मुद्रा हो गयी, मानवता अत्यन्त गौण

हो गयी। इसका कारण मुद्रा से समस्त उपयोगी वस्तु क्रय करना सम्भव होना व मुद्रा में भंडारण का गुण है। मुद्रा की आवश्यकता व सांस्कृतिक अवमूल्यन के कारण एक शोषण की पद्धति का विकास हुआ, जिसके कारण मनुष्य द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का ही नहीं मनुष्य का भी शोषण प्रारम्भ हुआ, अर्थात मानवता और आत्मीयता का स्थान आर्थिक शक्तियों ने ले लिया।

स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भी समाज इस संस्कृति को छोड़ नही पाया। आज भी सम्बंध आर्थिक आधार पर स्थापित हैं, जिसके कारण समाज में एक काल्पनिक भौतिक प्रतियोगिता गाँव के अन्दर दिखाई पड़ती है। व्यापक उपभोक्तावाद का विस्तार हुआ है। जबकि मानवतापूर्ण सम्बंध में समाज उस परिवार को अपना अभिन्न अंग समझकर सहयोग करता था। अतः वहाँ पर ऊँच–नीच, कम ज्यादा का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता था क्योंकि समाज में किसी व्यक्ति को ऊँचा–नीचा कहना स्वयं का ही अपमान था। मानवतापूर्ण सम्बंध में भौतिक तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्थान नहीं होता था। समाज और व्यक्ति मूल्यों के आधार पर बहस करते थे। परन्तु आज समाज के धनवान व्यक्ति ने विवाह संस्कार को भौतिक तुलनात्मकता का लक्ष्य बना दिया है।

आज का एक धनवान व्यक्ति विवाह संस्कार में आवश्यक और अन्य अनावश्यक वस्तु जो उस भौगोलिक वातावरण में उपलब्ध नहीं है उसको धन के आधार पर बाजार से क्रय कर लेता है। उसके बाद बहस होती है कि यह व्यवस्था उस व्यवस्था से अच्छी या खराब थी, एक काल्पनिक भौतिक प्रतियोगिता। धनाढ्य व्यक्ति की क्षमता थी उसने क्रय कर लिया। यह स्थिति मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के लिए विषम है, उसे सामाजिक हीनता का एहसास दिलाती है। मध्यवर्ग आंशिक रूप में काल्पनिक भौतिक प्रतियोगिता के कारण उधार (बैंकों व महाजनों से) लेकर व्यय कर देता है, और बाद में ऋण जाल में फँस जाता है। यह ऋण उसने कृषिगत कार्य के लिए लेता है, जिसे वह कृषिगत कार्य में व्यय न कर पाने के कारण वह ऋण अदायगी नहीं कर पाता और सामाजिक अपमान महसूस करने के कारण कृषक आत्महत्या को विवश होता है। आलोचक रामविलास शर्मा ने इसे महाजनी पूँजीवाद कहा है। शायद मानवता आधारित एकात्मकता गाँव में होती तो उनके जीवन में ऐसी स्थिति नहीं आयी होती। समाज के धनहीन व्यक्ति के लिए लड़की एक अभिशाप बन गयी है। इन समस्त समस्याओं के उत्पन्न होने का मुख्य कारण व्यक्ति का व्यक्ति से मानवता पूर्ण सम्बंध न होना है।

पं• दीनदयाल उपाध्याय जी का कहना था कि "राज्य के समान और संस्थाएँ भी आवश्यकतानुसार समय–समय पर पैदा होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति इनमें से प्रत्येक संस्था का अंग रहता है। यथा कुटुम्ब का मैं अंग हूँ, जाति–व्यवस्था हो तो उसका भी अंग हूँ,मेरा कोई धन्धा है उसका भी मैं एक अंग हूँ, इस समाज का भी मैं एक अंग हूँ और इस समाज से आगे यदि पूर्ण मानवता का विचार करें तो उसका भी मैं एक अंग हूँ। मानव से आगे बढ़कर यदि हम इस चराचर जगत् का विचार करें तो उसका भी मैं एक अंग हूँ। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति नाम की जो वस्तु है वह एकांगी नहीं बल्कि बहुरंगी है, परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति अनेक अंगों वाला होकर भी परस्पर सहयोग, समन्वय व पूरकता और एकात्मता के साथ चल सकता है।"

लोगों के भरण–पोषण के लिए, जीवन के विकास के लिए(प्राकृतिक इच्छा) और राष्ट्र की धारणा एवं विकास के लिए जिन मौलिक साधनों की आवश्यकता होती है, उनका उत्पादन अर्थव्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए।

विकास के सम्बन्ध में देश ने समय–समय पूँजीवादी और समाजवादी प्रधान मॉडलों को अपनाया, परन्तु दोंनों ही विकल्पों ने समाज के व्यापक आबादी को विकास से दूर रखा। इन दोनों तरीकों से समाज के हर व्यक्ति तक विकास पहुँचाने में अक्षम होने पर पुनः प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि विकास का मॉडल कैसा हो?

यह विकास का मॉडल सबका साथ सबका विकास है, जिसमें व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार समाज का कार्य करे। मेरा मानना है कि समाज के विकास में वर्ण व्यवस्था से सम्बन्धित निम्न प्रश्नों का विचार किया जाये तो समाज का विकास और सामाजिक अवश्यकता की पूर्ति भी हो सकती है।

- वर्ण व्यवस्था जरूरी क्यों है?
- वर्ण व्यवस्था पहले क्यों थी, वर्तमान में क्यों बिखरी हुई है?
- वर्ण व्यवस्था का मंहगाई और बरोजगारी से क्या सम्बन्ध है?

वर्तमान भारत में यह उभर कर आता है, कि कमोवेश वर्ण व्यवस्था विखंडित हो गयी है। "व्यक्ति के विकास और उसकी सामाजिक आवश्यकताओं (बौद्धिक, आंतरिक और बाह्य दोंनों प्रकार की सुरक्षा, आजीविका का सवाल, वस्तुओं के उत्पादन, वितरण संरक्षण के अतिरिक्त लोगों को सोचने–विचारने के लिए यथेष्ट अवकाश भी प्राप्त हो ताकि चिन्तन का स्तर भी ऊँचा उठता रहे) की पूर्ति के लिए भारत में अति प्राचीन काल से वर्ण व्यवस्था चली आ रही है। यह व्यवस्था इसी आधार पर निर्मित हुई थी कि अपने गुण–कर्मों के अनुसार लोग समाज की सेवा कर सके। व्यक्ति के अन्दर जो श्रेष्ठताएं हैं उनका विकास हो और व्यक्ति के विकसित होने की प्रक्रिया में समाज भी दो कदम आगे बढ़े। इसी के व्यवहारिक रूप को वर्ण–व्यवस्था कहा गया। व्यक्ति को जीवन ध्येय मिला और समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हुई। वास्तव में सब परस्परानुकूल है। परस्परानुकूलता पर आधारित यह व्यवहार चक्र न केवल सुखद वरन् चैतन्यपूर्ण भी रहता है। इसमें न तो बोझ की मजबूरी है न मजबूरी की मांग है, इसमें न दूसरों कें सामने हाथ पसारने की दीनता है और न ही अपनी शक्ति स्वतंत्रता व सत्ता को केवल अपने ही लिए उपयोगी होने की चाह है। यही विशालता है।" व्यक्ति और समाज को एक साथ लेकर ही चलना उचित होगा, क्योंकि दोंनों एक दूसरे के परस्परानुकूल हैं और एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण है। पूँजीवाद और समाजवाद का द्वैतवाद इस विचार से कोसों दूर है, जिसका परिणाम है कि विकास कुछ का हुआ बहुसंख्यक आबादी विकास से दूर रही।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था व्यक्ति का मूल्यांकन अर्थ के आधार पर करती है। जो अर्थ से जितना अधिक सक्षम है वह उतना ही साधनों का उपयोग करने के योग्य है। अमित भादुड़ी ने लिखा है कि एक आर्थिकतंत्र में लोकतंत्र जैसा व्यवहार नहीं होता है। लोकतंत्र में सभी व्यक्तियों को समान वोट देने का अधिकार है, जबकि आर्थिकतंत्र में क्रयशक्ति(अर्थ) के आधार पर उपभोग करने का अधिकार है। धन जिस व्यक्ति के पास है, उसी की मांग के अनुसार उत्पादन किया जाता है, वही बाजार में उपलब्ध भी है। क्रयशक्तिहीन व्यक्ति के लिए बाजार में मांग न होने के कारण उसकी प्राकृतिक इच्छा (भोजन, वस्त्र, घर, शिक्षा एवं स्वास्थ्य) की भी पूर्ति नहीं हो पाती है, जिसके कारण एक व्यापक आबादी आर्थिकतंत्र में हासिये में चली जाती है। यह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की सबसे बड़ी समस्या है। जबकि मानवतावादी समाज में व्यक्ति–व्यक्ति की आवश्यकता अनुसार सहयोग अपने धर्म के अनुसार करता है, हर व्यक्ति की प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति हो जाती है। इसमें पूरी तरह से एक पूरक के रूप में वर्ण व्यवस्था कार्य करती है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था राज्य के समस्त साधनों को हथिया कर तानाशाह की तरह कार्य करती है और व्यक्ति को गौड़ मानकर अपनी इच्छा के अनुसार समस्त साधनों का वितरण समानता के आधार पर करती है। यहाँ पर पूँजीवादी समस्या का आंशिक निदान हो जाता है कि निर्धन व्यक्ति अब क्रयशक्ति के आधार पर अपनी प्राकृतिक आवश्यकता की पूर्ति से वंचित नहीं होते हैं। जबकि पं॰ दीनदयाल जी के अनुसार "वास्तव में सृष्टि में कोई भी दो चीजें समान नहीं हैं। विविधता ही सृष्टि का सौन्दर्य है। इसलिए सबकी एक जैसी आवश्यकतायें भी नहीं हो सकतीं। आवश्यकताओं की भिन्नता भी स्तर पर निर्भर करेगी। इसलिए अनेक स्तर होना भी बिल्कुल स्वाभाविक है। समानता लाने की बात पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता और ईष्या निर्माण कर सकती है, किन्तु सर्वांगपूर्ण विकास का अवसर नही दे सकती। इसलिए हमने समानता नहीं आत्मीयता के आधार पर

सोचना प्रारम्भ किया। हम सम्पूर्ण का विचार और आत्मीयतापूर्वक व्यवहार करने में विश्वास रखते हैं।" समाजवादी अर्थव्यवस्था में निम्न कुप्रभाव उभर कर आते हैं।

- व्यक्ति के व्यक्तित्व का नाश होता है।
- उत्पादन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

व्यक्तित्व के नाश के कारण सामाजिक प्रतिष्ठा का क्षरण होता है। एक विज्ञान का विद्यार्थी वैज्ञानिक बन सकता है। वह समाज में उसका सम्मान बढ़े इसलिए वह ऐसा करना चाहता है, लेकिन समाजवादी व्यवस्था में उसे उतना ही सम्मान मिलेगा जितना एक सामान्य व्यक्ति को, अतः वह वैज्ञानिक बनने की भावना का त्याग करता है। यह कुशलता का क्षरण तथा व्यक्तित्व का नाश करना है। इसी प्रकार एक व्यवसायी बड़ा उद्योग खड़ा करना चाहता है, लेकिन जब उसको पता चलता है कि उसके उद्योग का बड़ा हिस्सा कर के रूप में सरकार ले लेगी और उसकी आय व श्रमिक की आय में अधिक अन्तर नहीं रहेगा। फलतः अधिक उत्पादन और व्यवसाय फैलाना उसके लिए महत्वहीन है, क्योंकि उसका उद्देश्य अधिक धन संग्रह करने का है जबकि सरकार ने उसके धन का हरण कर लिया। परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्व के साथ उत्पादन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सरकार पहले व्यवसायियों को बढ़ाती है फिर उन पर कर लगाकर राजस्व इकट्ठा करती हैं। फिर सरकार जिनकी प्राकृतिक अवश्यकता की पूर्ति नहीं होती है, उनकी अवश्यकता की पूर्ति व वितरण करती है। सरकार प्राकृतिक इच्छा का स्वयं र्निधारण करती है। पर क्या सरकार समस्त व्यक्तियों की प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति कर सकती है, जब व्यक्ति–व्यक्ति की प्राकृतिक इच्छा भिन्न हो? एक बंगाली चावल खाना पसंद करता है, उसकी प्राकृतिक इच्छा गेहूँ खाने की नहीं है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सरकार यदि गेहूँ दे तो क्या उसकी प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति हो जायेगी? शायद नहीं। भरत झुनझुनुवाला के अनुसार यदि व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार रोजगार मिल जाये तो वह व्यक्ति अपनी प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति स्वयं कर लेगा।

इन समस्याओं के समाधान के लिए पं॰ दीनदयाल जी के अनुसार लघु एवं कुटीर उद्योग को बढ़ावा और अर्थायाम की नीति का पालन करना होगा, जिससे व्यक्ति का अपने उद्योग से आत्मिक सम्बन्ध बना रहे तथा वह अपनी प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति कर सके।

सरकारों ने रोजगार के विषय पर विचार तो किया, लेकिन इस विषय पर विचार नहीं किया कि जब रोजगार का सृजन हो जाता है तो उसके साथ ही मांग का भी सृजन हो जाता है। अतः यदि रोजगार दिया जा रहा है तो पूर्ति की तरफ भी ध्यान देना होगा। सामान्यतः जो देखने में मिलता हैं कि मनरेगा, बेरोजगारी भत्ता आदि योजना समाज में मात्र मांग बढ़ाने का कार्य की हैं। इससे अर्थव्यवस्था में दोहरी मार पड़ी, एक तरफ मजदूरी बढ़ी जो दूसरी ओर मांग बढ़ी। परिणामतः रोजगार बढ़ाने में महगाई बढ़ी। अतः हमें रोजगार के साथ उत्पादन पर भी ध्यान देना होगा, उत्पादन में भी सामाजिक आवश्यकताओं पर। यह वह आवश्यकता हैं जो पूँजीवादी आर्थिकतंत्र में क्रयशक्ति के अभाव के कारण हासिये में हैं या समाजवाद की वितरण व्यवस्था में सामान्यतः सम्मिलित नहीं हैं।

भारत में रोजगार की कमी होने का एक मुख्य कारण मानवता के स्थान पर आर्थिकतंत्र है। उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन हो रहा है, जिनकी मांग देश की एक तिहाई क्रयशक्तिवान आबादी करती है। एक तिहाई आबादी की आवश्यक वस्तु का उत्पादन होने के कारण रोजगार के अवसर सीमित हो गये हैं। यदि समाज के हासिये में बैठी आबादी की आवश्यकता को ध्यान में रखकर उत्पादन करें तो रोजगार का भी सृजन हो जायेगा। इसके लिए सर्वोत्तम उपाय वर्ण व्यवस्था हो सकती है।

टूटती वर्ण व्यवस्था के परिणाम स्वरूप आज समाज में जहाँ एक तरफ बेरोजगारी बढ़ी है वहीं दूसरी ओर दैनिक उपभोग तथा खाद्यान्नों की कीमत में वृद्धि के साथ श्रम लागत में भी वृद्धि हुई है। इसका मुख्य कारण आज देश में शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान प्राप्ति के स्थान पर रोजगार का माध्यम मान लेना है। परिणामतः यह हुआ कि हर युवा रोजगार की तलाश में अपने व्यवसाय को छोड़कर देश के विभिन्न शहरों में शिक्षा ग्रहण कर रहा है। इससे एक ओर ग्रामीण भारत से देश का युवा शहरों में स्थानान्तरित हो गया और ग्रामीण समाज श्रमिक समस्या से जूझ रहा है दूसरी ओर अधिकतर युवा शहरों में 35 वर्ष की आयु तक सेवा क्षेत्र में रोजगार की तलाश में लगा रहता है। 18 से 35 वर्ष की आयु जहाँ देश के लिए श्रम करने की व्यक्ति की सबसे ऊर्जावान आयु का समय होता है वहीं वह मानसिक दबाव और भविष्य में धनाभाव होने की चिन्ता से ग्रस्त रहता है।

सेवा क्षेत्र के प्रति बढ़ती लोकप्रियता के कारण आज देश व प्रदेश दोनों में जब किसी पद के लिए विज्ञप्ति आती है तो पद की तुलना में प्रार्थियों की संख्या दसों हजार गुना अधिक रहती है। शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशासनिक, और बैंकिग सीमित पदों में आवेदन कर्ता असीमित होते हैं।

लोग रोजगार की तलाश में हैं। उन्हें रोजगार के अवसर केवल सेवा क्षेत्र में दिख रहे हैं। इसी का परिणाम है युवा के परिवार वाले अपने जीवन की सम्पूर्ण आय का एक बड़ा हिस्सा अपने पुत्र या पुत्री को रोजगार पाने के लिए शिक्षा में खर्च कर रहे हैं, परन्तु सेवा क्षेत्र में भी रोजगार की एक सीमा अर्थात शेष आवेदक फिर कहीं आवेदन के लिए इन्तजार करें। इस दौड़ और इन्तजार में वह अपनी आधी उम्र परिवार में आश्रित होकर गुजार देता है। उसे अनुमान ही नहीं होता हम एक लम्बे समय से पढ़ते चले आ रहे हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि देश के कृषि क्षेत्र में श्रमिकों की निर्भरता से ज्यादा अभ्यार्थियों की निर्भरता सेवा क्षेत्र में कहीं ज्यादा है। जबकि पं• दीनदयाल जी के अनुसार हर व्यक्ति किसी विशेष योग्यता का धनी होता है। वह अपनी योग्यता के आधार पर समाज की दो या तीन आवश्यकता की पूर्ति करता है, जबकि उसकी समस्त इच्छा की पूर्ति समाज करता है। जिस देश का युवा 35 वर्ष तक किसी प्रकार का उत्पादन कार्य न कर यदि उपभोग करेगा तो वहाँ पर मंहगाई और श्रम लागत (मजदूरी) बढ़ना कोई नयी बात नहीं होगी।

सहभागितायुक्त जनतंत्र के आर्थिक अभ्यंतर में पारस्परिकता का भाव होता है। एक न्यूनतम आय के अधिकार से युक्त सब नागरिकों को सामाजिक उपभोग में उचित हिस्सा मिलना चाहिए। साथ ही, उनके ऊपर सामाजिक उत्पादन में योगदान करने की जिम्मेदारी होती है। सहभागितायुक्त जनतंत्र का लक्ष्य गरीबों को उत्पादक एवं उपभोक्ता, दोनों के रूप में आर्थिक जीवन में पूर्ण भागीदारी देना होता है। हमारे राजनीतिक जनतंत्र और उसकी घोर आर्थिक विकृतियों के बीच की खाईं को पाटने का यही एकमात्र रास्ता है। एक पूर्णरोजगार युक्त समाज की ओर तेजी से बढ़कर ऐसा करना संभव है। बेशक, समुचित अल्पावधि में अपने इर्द–गिर्द उपस्थित निर्धनता और तिरस्कार के उन्मूलन का यही एकमात्र रास्ता है। प्रतिष्ठापूर्ण विकास वह प्रक्रिया बन जाएगी जिसके जरिये राजनीतिक एवं आर्थिक जनतंत्र को, सबके लिए उच्चतर उत्पादक रोजगार के माध्यम से परस्पर नजदीक लाया जाएगा।

व्यक्ति विशेष को रोजगार आय और जीविका प्रदान करता है, और वह इस आय को विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करता है। रोजगार और उपभोग से जुड़ी मांग के बीच यही संबंध होता है। यदि उसका व्यय घरेलू वस्तुओं पर होता है तो घरेलू बाजार का आकार बढ़ता है। अगर व्यय विदेशी वस्तुओं पर हो तो आयात के कारण घरेलू बाजार का आकार घटेगा। कुल मांग, जिसमें उपभोग पर व्यय, निवेश और व्यापार का घाटा शामिल होता है, घरेलू बाजार के आकार को निर्धारित करती है। मगर मांग कहानी का केवल एक पक्ष है। जहां तक समाज का प्रश्न है, रोजगार का मतलब उत्पादन भी होना चाहिए, और इस प्रकार वह कहानी

का पूर्ति पक्ष प्रस्तुत करता है। अतः रोजगार को ऐसी अवधारणा के रूप में देखा जाना चाहिए कि जो मांग पक्ष में आय और पूर्ति पक्ष में उत्पादन के साथ जुड़ी होती है।

परन्तु देश के पिछले दस वर्षों में केन्द्र व कुछ राज्य सरकारों ने रोजगार, प्राकृतिक आपदा राहत, मंहगाई भत्ता व विभिन्न सहायता के नाम पर अत्यधिक मात्रा में मुद्रा का वितरण बिना किसी श्रम के या अल्प श्रम में ही (यानि मुद्रा की मात्रा या मजदूरी उनके उत्पादन के अनुपात में कई गुना ज्यादा दी गई) किया है। जैसे महात्मा गाँधी रोजगार गारण्टी अधिनियम में श्रमिकों को मजदूरी उनके उत्पादन में सहयोग दिये बिना दिया जा रहा है। वहाँ पर कार्यकुशल व कार्य उत्तरदायित्व का कोई सवाल खड़ा नही किया जा रहा है।

किसानों को बाढ़ और सूखा से स्थायी निवारण के स्थान पर राहत के रूप में मुद्रा प्रदान की जा रही है। बेरोजगारों को रोजगार न देकर बेरोजगारी भत्ता दिया जा रहा है, जो उत्पादन में अंश मात्र भी सहयोग नहीं करता है। इस प्रकार अनेक योजनाओं के माध्यम से अर्थव्यवस्था में मुद्रा का वितरण बिना उत्पादन के किया जा रहा है। इस परिस्थिति में अर्थव्यवस्था में दो प्रभाव पड़ते हैं। पहला आय के रूप में मांग तो बढती है, परन्तु उत्पादन के अभाव में पूर्ति नहीं बढ़ती है, परिणाम अर्थव्यवस्था में मंहगाई बढ़ती है। दूसरा बढ़ी मांग की पूर्ति के लिए सरकार आयात का सहारा लेती है।

सामान्यतः यह मान लिया जाता है कि यह सरकार देश के नागरिकों को खुश करने के लिए ऐसी योजना ला रही है, जबकि वस्तविकता यह है कि मांग बढ़ाने के लिए मुद्रा चाहिए, मुद्रा सरकार बिना उत्पादन के अर्थव्यवस्था में बाँट रही है। ताकि कॉरपोरेट घरानों के पूँजी प्रधान वस्तु को बाजार मिल सके, अतः यह योजना सरकार कॉरपोरेट नीति के तहत कर रही है, ताकि वस्तुओं की मांग बढे।

अतः प्रतिष्ठापूर्ण व्यक्ति के विकास के लिए व्यक्ति की आय को यदि मांग समझा जा रहा है तो उसके उत्पादन को पूर्ति समझना होगा, और इन दोनों में संतुलन आवश्यक है। दोनों में से एक की भी बढ़ोत्तरी महगाई या मंदी का कारण बनेगी।

हमें एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसमें सबकी प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति हो उसके लिए सरकारों के माध्यम से बेरोजगारी भत्ता, खाद्यान्न या रोजगार नहीं चाहिए, क्योंकि व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठापूर्ण व पुरुषार्थ पूर्वक जीवन जीना चाहता है। अमित भादुड़ी के अनुसार यह तभी हो सकता है जब उसका भी योगदान राष्ट्रीय आय में हो उसको भी महसूस हो की राष्ट्र निर्माण में उसने भी सहयोग किया है।

पहले हमारे गाँवों में व्यक्ति प्रतिष्ठापूर्ण तरीके के साथ अपनी प्राकृतिक आवश्यकता की पूर्ति कर लेता था, लेकिन अब वह अपनी प्राकृतिक आवश्यकता के लिए शहरी बाजार पर आश्रित है। इसका कारण है या तो उनकी प्राकृतिक आवश्यकता संस्कृति के विपरीत है, या गाँव अब उन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम नहीं है। मुझे लगता है कि यह दोनों कारण प्रभावी हैं। गाँव में संचार के माध्यमों द्वारा जो जागरुकता के लक्ष्य थे वह तो प्राप्त न हो सके। उनके स्थान पर पूँजीपतियों के उपभोक्तावादी आर्थिक लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लिए है। यदि विचार करें तो व्यक्ति के संचार से जुड़ने के बाद संस्कृति का प्रवाह शहर से गाँव की दिशा में ही हुआ है, और इसी सांस्कृतिक प्रवाह में हम पाश्चात्य संस्कृति की ओर प्रवाहमान हैं। गाँव में व्यक्ति के कपड़े, रहन–सहन, भोजन, बातचीत इत्यादि में इसका प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जिसके कारण जैसा पहले उल्लेख किया गया है कि गाँव अब आत्मर्निभर नहीं रहे। आज गाँव के साधन और उत्पादन शहरों की ओर प्रतिस्थापित हो रहे हैं। फिर भी अभी (सांस्कृतिक बदलाव के बाद) गाँव की अधिकांश सामाजिक आवश्यकताओं की गाँव में ही पूर्ति हो सकती है, जैसे कृषिगत उपभोग की वस्तु, लकड़ी के फर्नीचर, मिट्टी के बर्तन, विवाह आदि संस्कार में मानवीय सहयोग, इत्यादि। आज स्थिति क्या है ? गाँव की सब्जी एक उत्पादक लेकर शहर जाता है, फिर गाँव का उपभोगक्ता शहर जाकर उसे क्रय कर लाता है।

यदि हमारी उपभोग संरचना वैसी होती कि जिसका उत्पादन हम करते हैं उसका उपभोग करें तो शायद देश में आर्थिक सम्प्रभुता होती। खाद्यान्न उत्पादन जो हमारे भौगोलिक परिधि और वातावरण में पैदा होता है उसका उपभोग करते तो खाद्यान्न सम्प्रभु होते। यदि गाँव में उत्पादित खाद्यान्न के स्थान किसी अन्य वस्तु का उपभोग करें तो खाद्यान्न निर्भरता नहीं घटेगी। अतः स्वसाधन और स्वउत्पादन आधारित उपभोग संस्कृति का पालन किया जाये तो शहरों पर निर्भर नहीं होना पड़ेगा।

वर्ण व्यवस्था क्षतिग्रस्त होने का मुख्य कारण जब देश में पूँजीपती तथा तथाकथित समाजवादिओं का प्रभाव बढ़ा तो इनको यह लगा कि कैसे यह संरचना तोड़ी जाये, क्योंकि यदि समाज में ही व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति हो जायेगी तो पूँजीपतियों कि क्या अवश्यकता होगी। सामाजिक द्वेष फैलाने में इनका पर्याप्त सहयोग, सामाजिक न्याय के तथाकथित समर्थक समाजवादियों ने की। ऊँच–नीच, अच्छा–खराब, आदि के आधार पर समाज का विभाजन किया। जबकि पं• दीनदयाल उपाध्याय जी के अनुसार "समाज रूपी विराट् पुरूष के विभिन्न अंग के नाते सभी आवश्यक और आदरणीय हैं। क्या शरीर का कोई अंग कम महत्वपूर्ण हो सकता है या कोई अंग केवल अपने अपने भरोसे पर स्वयं पूर्ण हो सकता है?" जब तक हम इस एकात्मता से नहीं चलेंगे समाज का विकास असम्भव है। यदि मानवता आधारित एकात्मता के स्थान में आर्थिक एकात्मता के अनुरूप चलेगें तों समाजवादी समानता के नाम पर विषमता फैलेगी और पूँजीपति समस्त समाज की अवश्यकता का स्वामी बन जायेगा।

जो समाज को धारण करता है, समाज को सुव्यवस्था से रखता है, समाज के सभी प्रकार के लोगों को ठीक अपने–अपने कार्यों में लगाता हुआ समग्र समाज के अभ्युदय के लिए, रक्षा के लिए, श्रेष्ठ जीवन के लिए सबके द्वारा परस्पर पूरकता से कर्म करवाने की जिसके अन्दर क्षमता है, वही धर्म है। समाज–धारणा की सुस्थिति बनाना धर्म का एक रूप है।

पं• दीनदयाल उपाध्याय जी के अनुसार जिस प्रकार डिब्बे की ऊपरी और निचली सतह होती है वैसे ही व्यक्ति और समाज है। डिब्बे की कोई भी सतह निकाल कर अलग नही कर सकते। वह चाहे जितना छोटा करते जायें तब भी ये दो सतह बनी रहेंगी, दोनो सतह की तरह व्यक्ति और समाज दोंनों में कौन महत्वपूर्ण है, यह सवाल गलत है, क्योंकि जितना बड़ा व्यक्ति है उतना बड़ा समाज भी है, दोनों अभिन्न हैं। पश्चिमी विचार इन दोनों के बीच संघर्ष है गलत है। भारत में व्यक्ति और समाज दोनों को एक देखा जाता है, दोनों अविभाज्य और अभिन्न हैं, दोनों के बीच संघर्ष की भावना मूढ़ता है। शरीर की दो टांगों के बीच कमजोरी या बीमारी हो सकती है तो इसे टांगों का स्वभाव स्वीकार कर एक टांग को काट नही दिया जाता है, बल्कि कमजोरी या बीमारी को दूर करने का प्रयास करते हैं, वैसे ही व्यक्ति और समाज में कटुता हो सकती है और दूर भी की जा सकती है। सुसंस्कृत अवस्था यही है कि जहाँ व्यक्ति अपनी चिन्ता करते हुए भी समाज की चिन्ता करेगा। दोनों में सामान्य स्थिति है, पूरकता है। समाज का बिगाड़ कर अपनी भलाई का जो विचार करेगा वह गलत सोचेगा यह विकृत अवस्था है। इसमें उसका भी भला नहीं होने वाला, क्योंकि समाज जिस स्थिति में पहुँचेगा उसे व्यक्ति को ही भोगना पड़ेगा।

अतः भारत में गरीबी, मंहगाई, बेरोजगारी को दूर करने के साथ–साथ राष्ट्र का प्रतिष्ठापूर्ण विकास हो, जिसमें व्यक्ति प्रसन्नतार्पूवक जीवनयापन के साथ अपनी प्राकृतिक इच्छाओं की पूर्ति कर सके, यह हिन्दू संस्कृति के मार्ग में चल कर ही संभव है, और निदान का यही एक मात्र मार्ग है। हिन्दू संस्कृति का मुख्य ध्येय मानवता आधारित समाज की स्थापना करना है। उपरोक्त लेख से भी स्पष्ट है कि भारत संसाधन के रूप में इतना सक्षम है कि हम एक पूर्ण वैभवशाली राष्ट्र का र्निमाण कर सकते हैं। हमनें कहीं न कहीं मानवता या आत्मीयता को छोड़ा है। वह समाज जो पूरी तरह मानवतार्पूवक एकात्मकता में बंधा था उसे नष्ट कर दिया गया है, जिसका परिणाम है कि आज देश में अनेक सामाजिक समस्या के साथ बहुसंख्यक आर्थिक समस्याएँ

हैं। देश में विकास पर चर्चा तो कर रहें हैं, लेकिन पाश्चात्य संस्कृति, पाश्चात्य साधन, पाश्चात्य मॉडल के आधार पर कर रहें हैं। यह रोग का इलाज नहीं है, यह रोग को बढ़ा देगा। हर राष्ट्र के विकास का मार्ग उस राष्ट्र की संस्कृति में होता है।

ग्रंथसूची

- अमित भादुड़ी,दीपक नय्यर,"उदारीकरण का सच" 'राजकमल प्रकाशन' '1996;
- अमित भादुड़ी, "प्रतिष्ठापूर्ण विकास पूर्ण रोजगार के समर्थन में" नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया '2006;
- भरत झुनझुनवाला,"भारतीय अर्थ–व्यवस्था समीक्षात्मक अध्ययन" राजपाल प्रकाशन'2007;
- डॉ• बजरंगलाल गुप्त,"सुमंगलम्" सुरूचि प्रकाशन, 2011;
- डॉ• श्यामाचरण दुबे,"विकास का समाजशास्त्र" 'राजकमल प्रकाशन'2011;
- डॉ• श्यामाचरण दुबे,"ग्रामीण भारत" ,राजकमल प्रकाशन, 2006;
- एम• एन• श्रीनिवास,"भारत के गाँव"'राजकमल प्रकाशन'2011;
- पं दीनदयाल उपाध्याय,"राष्ट्र जीवन की दिशा" ,लोकहित प्रकाशन,'2010;
- पं दीनदयाल उपाध्याय,"भारतीय अर्थ–नीति", लोकहित प्रकाशन,'2008;
- पं• दीनदयाल उपाध्याय,'एकात्म मानव दर्शन,'सुरूचि प्रकाशन,'2013;
- रामविलास शर्मा' "गाँधी, आम्बेडकार, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ" वाणी प्रकाशन, 2008;
- रविन्द्रनाथ टैगोर, 'स्वदेशी समाज राष्ट्रीय समाज–जीवन का आदर्श में' "राष्ट्रधर्म पुस्तक प्रकाशन"1969
- रविन्द्रनाथ टैगोर, 'राष्ट्रवाद नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, '2008'

अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ
महावीर भवन 21/16 हाशिमपुर रोड, टैगोर टाउन, इलाहाबाद – 211002
दूरभाष – 05322466563, **E-mail – nationalpolicy.in@gmail.com,**
Web –www.avap.org.in

मूल्य : 100 रु0

ISBN :